457 11/10C
विचित्र श्लोक-मञ्जरी
स्वामी प्रायगात्मानन्द सरस्वती

विचित्रा श्लोक-मञ्जरी
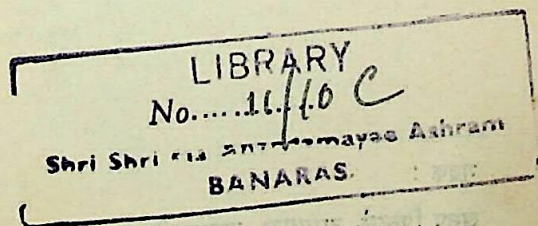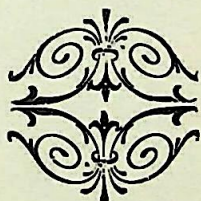
स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका

विषय	पद्य संख्या	पृष्ठ संख्या
श्री श्रीगुरुपूर्णिमापञ्चकम्	५	१–२
भ्रमरचकोरौ	२	३–५
प्रकीर्णके	२	५–६
प्रशस्तिः	१	६
आसनादिपञ्चकम्	१	७
स्नानपञ्चकम्	२	८–९
नोऽपेक्षमाणश्चर	२	९–१०
सत्यमधिकम्	१	१०–११
चिरं विजयताम्	१	११
मृग्यः स वर्यो महान्	१	१२–१३
न शोभते न सहते	१	१३
सरिद्वारिदौ	२	१४–१५
अन्तःसलिला	१	१५–१६
अकाल-वर्षणम्	१	१७–१८
त्रितारा	१	१८–१९
मृत्युः किमेका गतिः	१	१९
कृतिः कृपा	१	२०–२१
मूलं चल	१	२१–२२
सैकतगर्त्तं मृउत्सश्च	१	२२–२३
भुवनभरणभगवान्	१	२३–२४
चिन्तामणिः	१	२५–२६

चेतोदर्पणमार्जनम्	१	२६–२८
प्रकीर्णकम्	१	२८–३०
विषं सान्द्रे सुधाब्धौ सुधा	१	३०–३१
यो ग्रासिनां ग्रासकः	१	३१–३२
महामाया	१	३२
श्रद्धा	४	३३–३४
दामोदरः	१	३४–३५
को धीरः	१	३६
कालिन्दीदोलस्तथा कालियदोलः	१	३६–३७
प्रकीर्णकानि	४	३७–४३
तृणावर्त्तः	४	४३–४७
प्रकीर्णकानि	३२	४७–६६
आवेग आर्त्तिश्च	३	६६–६९
कृपा कृतिश्च	१	६९
प्रकीर्णम्	१	७०
विश्वतृप्तिर्मम तृप्तिश्च	१	७०–७१
रुचिरागः	१	७१–७२
ध्यानकमलम्	१	७२–७३
तृष्णाजलम्	१	७३–७४
प्रकीर्णकानि	२०	७४–८८
श्री श्रीजगद्धात्री	१	८८–९०
प्रकीर्णकानि	२३	९०–१०९
	१३५	

अनुवादिका का निवेदन

परम पूज्यपाद स्वामीजी के प्रत्यक्ष दर्शन व स्नेह का सौभाग्य मुझे १९६८ में प्राप्त हुआ। तब कुछ समय के लिये वाराणसी में ही निवास करते हुए पू० स्वामीजी प्रतिदिन एक स्नेह-कौतुक के रूप में एक-दो श्लोक लिखकर हिन्दी में भावार्थ लिखने के लिये मुझे देते थे। उन श्लोकों का भावार्थ या व्याख्या बंगला (-गद्य या पद्य) में प्रायः स्वयं ही लिख भी देते थे, और मैं बंगला की भावयोजना को यथा-सम्भव अक्षुण्ण रखते हुए अपनी बुद्धि व भावनानुसार उसका हिन्दी रूपान्तर करती थी। कुछ दिन वाद जब स्वामीजी कलकत्ता लौट गये, तब डाक-द्वारा यही क्रम प्रायः एक वर्ष तक कुछ सविलम्ब चलता रहा। उन्हीं श्लोकों के एक संकलन को उसी तिथिक्रम में ही मुद्रण के लिये दे दिया गया, अतः उसमें विषयानुसार क्रमसंयोजना नहीं की जा सकी। कुछ श्लोकों पर तो पू० स्वामीजी द्वारा प्रदत्त शीर्षक (अधिकांश संस्कृत में, कुछ बंगला में) थे ही, शेष श्लोकों को यथा-स्थान 'प्रकीर्ण' कहकर अनुक्रमणी में सूचित किया गया है। तीन-चार श्लोक पू० स्वामीजी के पूर्व प्रकाशित श्लोकसञ्चयनों में से अनूदित किये थे, वे भी इनके मध्य मिश्रित होकर मुद्रित हो गये हैं।

अनुवाद की भाषा कुछ भावनात्मक अधिक है, प्रकाशनार्ह कम; क्योंकि लिखते समय प्रकाशन की ओर दृष्टि थी ही नहीं। अतः भाषा की शिथिलता के लिये पाठकों से क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

पूज्यपाद स्वामीजी अब तक (९४ वर्ष आयु में भी) नित्यप्रति नवीन-भाव-सिद्धान्त-प्रेरणा-पूर्ण श्लोक लिखने का अनुग्रह करते ही हैं एवं बंगला में उनका संकलन 'बिचित्रा श्लोकमञ्जरी' नाम से ही प्रकाशित हुआ भी है। अजस्र-अकुण्ठ सारस्वत-महिमा के इन स्नेह-विग्रह के श्रीचरणों में अनन्त प्रणाम सहित,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२६-१-७३

स्नेहधन्या,
ऊर्मिला शर्मा

प्राक्कथन

(महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज)

पू० स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती दार्शनिक, मनीषी, विज्ञान और अध्यात्म के अपूर्व समन्वयकर्त्ता होने के साथ-साथ 'कवि' भी हैं। आपका कविहृदय आपके व्यक्तित्व का 'हृत्'-स्वरूप है। गत प्राय: तीन वर्षों में इस कविहृदय की जो अभि-व्यक्ति होती रही है उसके कियदंश का यह संकलन साधकों को तुष्टि और पुष्टि देगा। नब्बे वर्ष पार कर चुकने पर भी स्वामीजी की सरस्वती अजस्रस्रोतोवाहिनी के रूप में प्रवाहित है, यह आनन्द का विषय है।

स्वामीजी के शिष्य वाराणसी-निवासी श्री कन्हैयालालजी अग्रवाल ने इन श्लोकों के मुद्रण की पूरी व्यवस्था की है, इसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं।

माता श्री आनन्दमयी आश्रम **श्री गोपीनाथ कविराज**
वाराणसी २८-१-७३

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
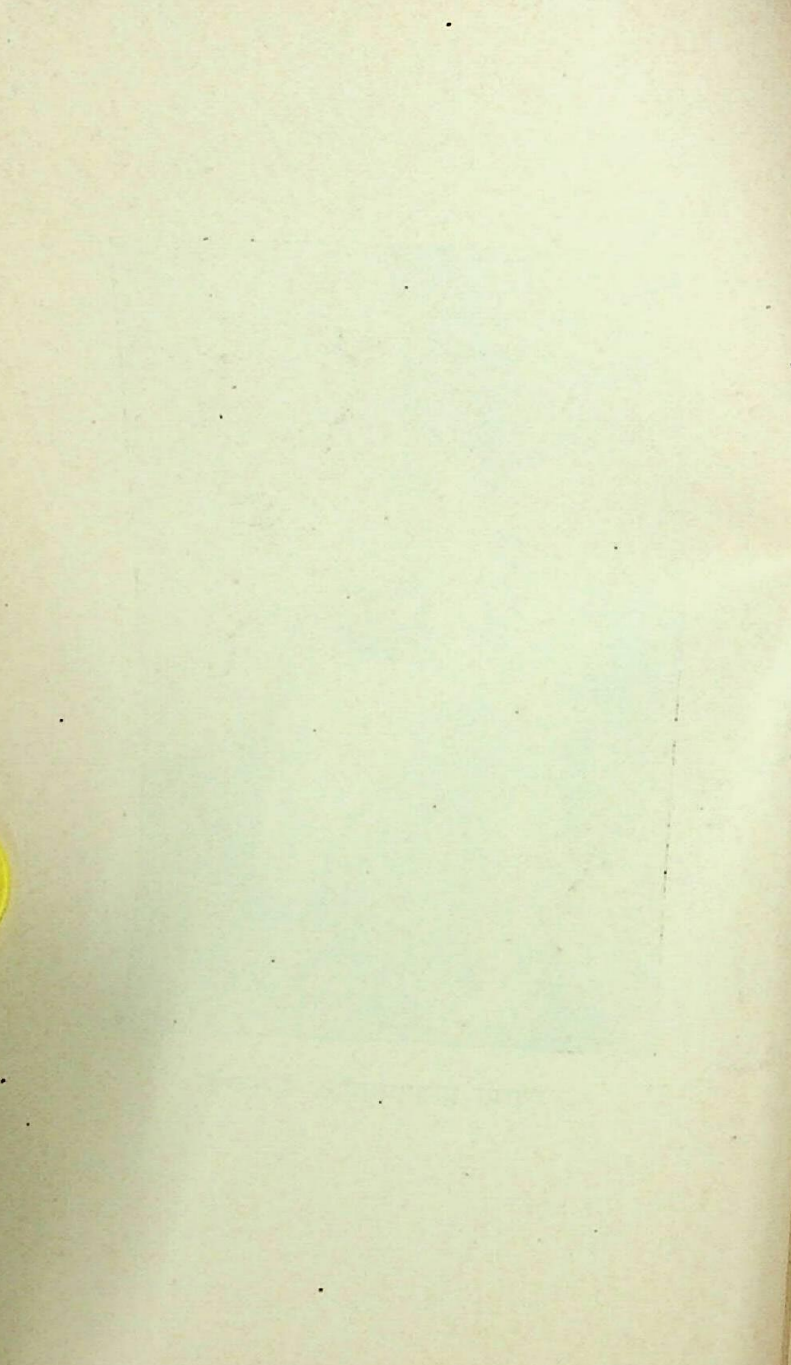
श्रीश्रीगुरुपूर्णिमापञ्चकम्

दश पदनखराणि प्रोज्ज्वले चक्षुषी द्वे
ह्यपगतकुहृकाङ्क्षे सौम्यभातिश्च भालः।
स्मितसुवलितमास्यश्चाशिषे परिणमुद्रे
गुरुविमलसुधांशोः षोडशी पौर्णमासी ।। १ ।।

दशमितकरणानि ज्ञानकर्मप्रवृत्त्यै
दशविधगुणवृत्त्यै वापि मे प्राणसंज्ञाः।
अहमिति चितिकेन्द्रे चित्तबुद्धी मनश्च
सह सदयपदाभ्यां श्रीगुरोः पौर्णमासी ।। २ ।।
(सह गुरुचरणाभ्यां सन्तु मे पौर्णमासी)

चित्तं कारुण्यसिन्धुर्भवतु करुणया मानसाख्यं सरस्ते
यत्र ध्यानाय तुभ्यं स्फुरतु कुमुदिनी कान्तपीयूषकान्तिः।
पूजायै तत्र धूपैः कुमुदपरिमलो दीपकैः कौमुदी वा
नैवेद्यैर्नाथवक्त्रा(पादा)दमृतवितरणं विश्वतो भो चकोर! ।।३।।

फलकमिव दुरितचितकलुषमलदूषितम्
कुरुत मन उदितगुरुचरणशशिभूषितम् ।। ४ ।।
फलतु चिति नभसि गुरुमहिमचिरपूर्णिमा।
जयतु चिरममलरुचिलसित-गुरुचन्द्रमाः ।। ५ ।।

अरुण-चरण-युगल पर दस नख-चन्द्र-किरण सुशोभित हैं; नयन श्यामल हैं अज्ञान-तिमिर को मिटा देने वाले ज्ञानाञ्जन से; भाल पर

दिव्य वर्चस् (तेजस्) वाली सौम्य प्रभा है; प्रेम व करुणा दोनों मिलित हुए, अद्भुत स्मित बने हुए, मुख पर विकसित हैं; दोनों कर-कमल सहज ही चिर-आशिष की मुद्रा में हैं— इस प्रकार हे गुरुदेव ! नित्य गुरुपूर्णिमा के अवसर पर विमल सुधांशु रूपी आपकी षोडश कलायें पूर्ण हैं।

मेरे अन्तःस्वामी गुरुदेव ! ऐसे आप क्या बाहर ही विराजित रहेंगे ? जो चौदह कलायें देकर आपने मुझे रचा है— (दस ज्ञान कर्म-इन्द्रिय, अथवा दशविध गुण-कर्म के अनुसार दस प्राण बनाये हैं, और अहं को आन्तर चेतना के केन्द्र में रखकर मन, बुद्धि व चित्त से व्यवहार चलाते हो)—उन विशेष रूप से मलिन एवं भ्रष्ट चौदह कलाओं में करुणा-स्पर्शमणि रूपी अपने चरण-युगल मिला दो (मेरा अपने श्रीचरणों में योग करा लो) तो इस अघटन-घटना से कलुषित चतुर्दश भी अमल षोडशकल इन्दु की ही कलायें होंगी।

ओ चित्त-चकोर ! अपार-करुणासिन्धु गुरुदेव मानस-सरोवर हों, उसी जल में कुमुदिनीकान्त चन्द्रमा की अमियकान्ति (सुधा) तेरे चिरध्यान के लिये प्रतिफलित हो; कुमुदिनी के शुचि परिमल से धूप-दान हो, प्राणों को शीतल बनाने वाला मन्दसमीर अगुरु-धूम हो, चिर-अम्लान पूर्णिमा की चाँदनी ही दीपदान रूपी आरती हो; और श्रीगुरुदेव का चरणामृत या वाक्सुधा ही नैवेद्य हो—पाओगे ऐसा पूजा-महोत्सव !!

दुष्कर्मों से अतिमलिन चित्रफलक की भाँति जो मन कलुषित, दूषित है, उसके लिये मानो आज श्रीगुरुचन्द्र अमृत-किरण फैलाये हुए उदित हैं। सभी के चिद्गगन में श्रीगुरुमहिमा की असीम पूर्णिमा प्रतिफलित हो और सभी जयकार करें उन अनाविल, ज्योतीरसधन, प्रेमविग्रह चन्द्र का, जो चिदम्बर में चिर-विराजित हैं।

भ्रमरचकोरौ

विच्छेदान्मम जीवनं मरुसरश्चञ्चल्यते यन् मृषा
तत् पीयूषसरः प्रसूनसुरभि त्वां प्राप्य मे वल्लभम् ।
नक्तं न भ्रमरो दिवा न रमते यो याचते चन्द्रिकां
नाम्नैकत्र तयोः प्रभो परमता तुष्टेर्हि नक्तन्दिवम् ।।१।।

नामास्वादे रसनिविड़ताबिन्दुलीनः स भृङ्गो
नामास्वादे रसविपुलतानादपद्मश्चकोरः ।
त्यक्ते विन्दौ स्वलसितरसे गुञ्जितं भृङ्गपद्मे
लब्धोल्लासे विलसितकले कूजितं खे चकोरे ।। २ ।।

(सकलकलने)

हे वल्लभ ! तुम्हारे वियोग में मेरा यह जीवन मिथ्या चाञ्चल्य-भरी मरु-मरीचिका बना था; और तुम्हारा मिलन पाकर वही प्रफुल्ल प्रसूनों से सुरभित सुधा-सरोवर बना है। मेरा प्यासा अन्तस् भ्रमर या चकोर दोनों रूपों में अब तक रसहीन, वेदना से आकुल था। आज सरोवर में कमल व कुमुद दोनों खिले हैं, एक में दिनकर ने पीयूष भरा है, दूसरे में सुधाकर की सुधा मुसकाई है, दोनों क्रमशः भ्रमर व चकोर के मनोहारी हैं। ठीक है, तब भी तो रात्रि में भ्रमर के हृदय के समीप ही मधुकोष निमीलित हो जाता है और भरता है उसके वक्ष में तृषित निःश्वास निशि-भर ! और दिन आने पर कुमुदिनी-पति (चन्द्रमा) के म्लान होने पर चकोर का सुधास्वादन ठिठक जाता है और तपन से तपते वायु के झोंके घेर लेते हैं चकोर को।

मर्त्य जीवन में, भीतर का रसघन और रसोच्छल भाव दोनों पारी-पारी से व्यर्थ मिलन की चेष्टा करते रहते हैं। बिन्दु और सिन्धु,

निर्झर और सागर दोनों एक दूसरे को आश्लेष में लेने दौड़ते हैं पर ले नहीं पाते ।

किन्तु सच ही क्या वे दोनों एक दूसरे से मिल पाने की खोज में ही मिट जायेंगे, 'कण' की अपनी महिमा से दहरव्योम में बिन्दु और सिन्धु का मिलन होगा नहीं ? मौन व्यथा, नीरव पुलक कभी भी क्या निरञ्जन-महासङ्गीत की विपुल झङ्कार न पायेंगे ?

तभी तो प्रभु मेरे ! तुमने मुझे अपनी मूलतान एवं उसके राग-आलापों में विविध मूर्च्छना सुनाई हैं । नाम-ध्वनि-रस-रूपी मूर्च्छना की गाढ़ता में तुमने मुझे मधुब्रह्मलीन कर दिया, जिसमें बाहर का सब अनमना हो गया ।

गमक के अनन्त कलामाधुर्य के वितान में व्योमरूप ॐ (प्रणव) के आधार पर तुमने मुझे अपने ही रसचित्र में अपरूप अद्भुत रंगभरी अल्पना बना लिया ।

रस-कणों की अविरल वर्षा में, और उनके सङ्गोपन की दशा में मूक आस्वादन में, चकोर और भ्रमर दोनों को ही तुमने अभिरुचि के अनुरूप भूमिकाओं में आनन्दगान-रूपी गुञ्जन व कूजन दिये हैं ।

—: ० —

किमु पुनरुदपाने क्लिन्नतोये मतिर्मे
सदयकरधृतश्चेत् पूतगङ्गाम्बुनीतः ।
मधुसुरभिसरोजं प्राप्य सद्यः क्व यासि
कृमिविलसितकूपं क्लेदमक्षीव भृङ्ग ! ।।

कितनी करुणा से मेरा हाथ पकड़कर किसी कृपालु ने मुझे यहाँ परमपावन जाह्नवी-तट पर पहुँचा दिया है; तब भी अभागे मन ! यह

स्निग्ध पुण्य तट छोड़कर कोचभरे गड्ढे की ओर तू क्यों दौड़ा जाता है रे !—यह कहते हुए कि वहीं मेरे घर-द्वार में कितने काम हैं, गंगा-तट पर चैन की साँस लेने का समय मुझे कहाँ है ? तेरा यह आचरण या पागलपन वैसा ही है जैसे मधुर सुरभि-भरे कमल को पाकर, दुर्लभ मधुपान का सौभाग्य पाकर भी कोई दुर्बुद्धि भ्रमर उस दिव्य सुमन को छोड़कर, बहुत व्यग्रता दिखाता हुआ, गन्दी मक्खी की तरह, कृमियों के विलासस्थल दुर्गन्ध-भरे व्रण (घाव) की ओर दौड़ा जावे—यह कहता हुआ कि "अरे ! मीठे शुद्ध मधु की तलाश में मैंने अपने घर का (मुझे प्राप्त ही) सड़ा गुड़ भी चींटी के पेट में जाने दिया ! देखूँ कुछ बचा सकूँ तो वही ले लूँ" !

—: ० :—

नयसि यदि तरीं ते वैपरीत्येऽनिलापां
प्रभवतु तव यत्नो तत्र वाधा विजेतुम् ।
अनवसरकृतिश्चेद् भालघातः किमर्थं
परिकुरु निजनावं द्यान्च पृथ्वीं वृणुष्व ॥

(योगसन्धानदक्षः)

(सन्धिसन्धानशूरः)

तटिनी (नदी) की जलधारा और गगन में वायु कोई भी तेरे अनुकूल नहीं है। तब भी यदि यात्रा के लिये तुममें आग्रह है तो खोल दो नाव को, बाधायें जीतने में भाल से प्रचुर स्वेद-कण झरेंगे, झरने दो, यत्न को वाधाओं पर विजयी बनाओ। किन्तु वक्ष में साहस और हृदय में वल यदि न जुटा सको तो क्या करोगे ? तट की बालुका में या (बँधी-) नाव के कोने पर बैठकर पतवार को इधर-उधर घुमाते

दिन गँवा दोगे ? या माथे पर व्यर्थ हाथ पटककर आक्षेप करते रहोगे कि हाय अनुकूल वायु चला जा रहा है।

यह न भूलो कि यह अवसर जाता है तो फिर और भी अनुकूल होकर लौट भी आ सकता है। इसलिये अगले अवसर के लिये अभी से अपनी नौका को अच्छी तरह देख-भाल कर ठीक कर रखो, हृदय में विश्वास और मस्तिष्क में शान्ति लिये रहो। और देखोगे कि— देखते-देखते ही वह आ रहा है, अनुकूल स्रोत और सहायक हवा के साथ। ओ मंजिल के प्यारे चतुर मांझी, तव फिर देरी न करके 'जय दुर्गे' कहकर, खोल दो अपनी नाव, उठा लो लंगर, पतवार पर हाथ रखो और शान्ति-भरा निःश्वास फेंको (चैन की साँस लो)।

—: ० :—

प्रशस्ति

सर्वंस्वं मम वासुदेव इति चेदाकूतिरैकान्तिकी
यद् यद् दृष्टिपथि श्रुतौ वचसि वा तत्तद्धरे रोचना।
पादे नृत्यति सर्वतो नटवरो दोर्भिः स वीणाकरः
कारागारसमं तदा भवगृहं स्यात् प्रेष्ठ रङ्गालयः॥

हे वासुदेव ! तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो यदि तुम्हारे प्रति मेरी आकूति ऐकान्तिक बनी रहे। जितना कुछ, जो कुछ भी दृष्टिगोचर है. श्रवण-गोचर है या वाणी के क्षेत्र में है, वह सभी श्रीहरि की ही कान्ति है। प्रत्येक कदम नटवर का नृत्यछन्द है। प्रत्येक मधु-वीणा-वादक बाहु वीणापाणि के ही हैं। यदि ऐसा ही है, तब तो हे प्रेष्ठ ! मेरा यह कारागार के समान प्रतीत होता हुआ संसार-गृह भी तुम्हारा ही रङ्गालय या विहार-स्थली ही है।

आसनादिपञ्चकम्

स्थैर्यं चेतसि पाटवञ्च कृतिषु प्राणार्ज्जवञ्चासनं
कौपीनं चपलानृते च विषयेऽलौल्यं दधातु प्रभो।
ध्यातुं ज्योतिरनन्तमात्मनि परं स्तोमाकृतिः पादुका,
(स्तां ते छविः पादुका)
हृत्पद्मञ्च कमण्डलुः प्रकुरुतां प्रेम्णा मधुप्लावितम् ।।

हे बलिमख-याचक भगवन् ! (बलि के यज्ञ में भिक्षु बने वामन ! तुम्हारा परमपवित्र अजिन आसन (मृगछाल) मेरे चित्त में स्थिर रूप से बिछा देना। फिर भजन-पूजन आदि सभी कर्मों में मुझे पटुता सिखाकर मेरे प्राणों को ऋजु व धीर बना देना। तुम्हारा यह गैरिक कौपीन, मिथ्या, तुच्छ विषयों में सदा चपल-गति से भटकते हुए चञ्चल मेरे मन को इसी कुहक में मत्त न बनाये रखे। इसमें से निकाल लेना। हे स्वामिन् ! तुम्हारी दीप्त समुज्ज्वल छवि, एवं पद-नख-छटा रूपी मणि से जटित पादुका, मेरे अनिर्वाण स्वरूप की ज्योति-शिखा को प्रज्वलित बनावे। हे प्रेममय ! मेरे हृदय पद्म को खिलने दो एवं तुम्हारे ही चरणों में अपनी पँखुड़ियाँ सदा के लिये बिखेरने दो। तुम्हारे कमण्डलु का अहैतुक अमृत-झरना मधुर प्लावन से उसको सींच देवे ! (ऐसी कृपा करो।)

—: ० :—

स्नानपञ्चकम्

कायस्नानविधौ सदा धृतमना गङ्गां व्रजेत् श्रद्धया
युक्तं तद् हरिपादपद्मसुरभिः सद्योऽघहन्ता यतः ।
(पापानि हन्याद् यतः)
प्राणस्नानमथाचर प्रतिदिनं सन्धित्रिवेणीं गतो
गोमुख्याञ्च गिरो हरौ च मनसः स्नानं धियः सङ्गमे ।।१।।

कायस्नाने वहिर्गङ्गा प्राणस्नाने च मूर्द्धगा ।
नादगङ्गा गिरःस्नाने चेतःस्नाने स्वधादुघा ।।
प्रचोदयाद् धियः स्नाने सरित् संवित् स्वयंप्रभा ।।२।।

किसी पुण्यतिथि के अवसर पर शरीर को पवित्र करने के लिये स्नान का विधान है, इस कारण उस तिथि-विधि को लक्ष्य वनाकर श्रद्धा-पूर्ण होकर गङ्गा-स्नान के लिये जाते हो तो अवश्य जाओ; वे परम प्रभु के श्रीचरणों में से निःसृत हैं, उन्हीं पादपद्मों का गौरव है कि श्रीगङ्गा-स्नान तत्काल सभी पापों का नाश कर देता है। [किन्तु, केवल कायस्नान करके न रह जाओ; प्रत्युत] उसके वाद नित्य ही प्राण-स्नान के लिये सुषुम्णा आदि नाड़ियों के त्रिवेणी-सङ्गम में भी डुबकी लगाओ। [इतने से ही स्नान-विधि का पूरा पालन नहीं हुआ, अतः] गङ्गा के उद्भव-स्थल गोमुखी के तुल्य विन्दु-रूप नाद में वाक्-स्नान भी करो, तब हरिद्वार में श्रीहरि के ध्यान में वैठो। पूर्णकलाओं वाले चित्त-शतदल को श्रीहरि के चरणामृत (गङ्गाजल) के कणों से सींचो, एवं अन्त में सागर-सङ्गम में (ब्रह्मज्योति रूप पारावार में) बुद्धि को भूमा-समाधि में निमग्न कर दो।

हे दृष्टिगोचरा गङ्गा माँ, सन्तप्त शरीर वाले मुझको अपनी सन्तान की भाँति अपनी सुशीतल सुस्निग्ध गोद में खींच लो; समा लो। सुषुम्णा में छिप कर बहती हुई गङ्गा माँ! मेरे प्राणों को प्राणेश्वर की स्मित दृष्टि का स्नान करवा दो। तुम्हीं तो नाद-रूप में स्थित हो, उस रूप से भी माँ तुम्हीं अपनी शान्तवाहिता में मेरी वाक् के अन्तहीन स्पन्दनों को विलीन कर दो। स्त्रधा-अमृत की धारा-रूप से हे भावगङ्गे! मेरे आर्त्त, रिक्त चित्त को भाव-(वापी)-भँवर में डुबा दो। इस प्रकार से अनेक रूपों में स्थित मेरी सुरसरि जननी! स्वलसित स्वप्रकाश भूमा-चैतन्य में मेरी स्वल्प अहंबुद्धि का बुद्बुद् मिटा दो।

—: ० :—

नोऽपेक्षमाणश्चर !

श्रद्धावेदिसमित्सु ते हुतभुजः प्रज्वालिता या शिखा
यागार्थं गुरुदैवतस्य कृपया सिद्धिं परामीयिषोः।
प्रास्तं चेन्न हविर्न दत्तमधुना हव्यञ्च तस्यां सकृद्
भस्माच्छादनकुण्ठितत्विषमहो दीनः कथं शोचसि ॥

श्रद्धाभावविहीनमन्दकृतिनः किं फूत्कृतिर्भस्मसु
सम्यङ् नैव विधूननं गुरुकृपाप्रारब्धवातं विना।
प्रास्तं नाश्रुहविर्न दत्तममलं चित्तं न चेदिन्धनं
वह्निं गोपितवर्च्चसं त्वनिधनं नोऽपेक्षमाणश्चर ॥

ओ परमश्रेय के अभिलाषी! तुम्हारी श्रद्धा-रूप वेदी पर याग के लिये गुरुदेव की कृपा ने अविनाशी अग्निशिखा जला दी है, तुम्हारे

प्रणत प्राणों को समिध् बना दिया है। अब तुम यदि एकबार भी उस अग्नि में हवि न डालो; अपने अन्तस् की समस्त आकूति, सभी कामना व कर्म को हव्य रूप से समर्पण न करो; तब कहो तो भस्मराशि से ढकी, कुण्ठित उस वह्नि को तथा अपने निस्तेज, निष्प्रभ, संवेदनाशून्य, जड़ अन्तस् को देखकर व्यर्थ शोक क्यों करते हो ?

श्रद्धाभाव से रहित रहते हुए तुम मन्दकृति (उद्यम के प्रति प्रमादी, आलसी) केवल फूँककर भस्म हटाओगे ? गुरुकृपा-रूपी प्रारब्ध-वायु बिना वह भस्मराशि दूर नहीं होने की। जब तक अश्रु हवि का सवन न हो, शुद्ध चित्त इन्धन न बने, तब तक भस्म में छिपे हुए तेज वाली उस वह्नि को स्मरण-भर रखना, उसकी अपेक्षा में उन्मुख रहना, मन को अनास्था व उपेक्षा में न डाल देना।

—: ० :—

सत्यमधिकम्

त्वं सत्यं तव नाम सत्यमधिकं प्रेमापि सत्यं परं
नाम्ना चेदुदिता रतिः सुविमला किं त्वं तया नाहृतः।
को गच्छेद् द्रविणालयं मणिलुभा यस्यास्ति चिन्तामणिः
प्रेष्ठप्राप्तिफलाय किं न भजतां नामाख्यकल्पद्रुमम् ॥

हे नाथ! तुम सत्य हो, तुम्हारा नाम तुमसे भी अधिक सत्य है, और हे प्यारे बन्धु! तुम्हारा प्रेम सर्वोत्तम सत्य है, जिसकी कोई तुलना नहीं है। तुम्हारा नाम लेते-लेते जब सुविमल रति उदित होगी, तब उस रति के बाहुपाश से तुम उस (रति) के आश्रय हृदय में आहृत नहीं हो जाओगे क्या ?

'वहाँ रत्न-भाण्डार है' यह सुनकर कौन उसके द्वार पर भिखारी बनकर जायेगा, जिसके हाथ में चिन्तामणि है ? उसके लिये सभी स्वर्ण है, वह तो पारस का भण्डारी है। नाम-चिन्तामणि या नाम-कल्पद्रुम में प्रेष्ठ-मिलन रूपी फल सर्वदा फलता है, उसे न भजकर क्यों इधर-उधर वन-वन भटक कर मरते हो !

—: ० :—

चिरं विजयताम्

वाढं त्वं यदि सुन्दरस्तव रतिर्माधुर्यसन्दोहनी
ते नामामृतसागरे समजनि प्रेमेन्दुश्चिच्चन्द्रिका ।
चन्द्रस्यापि च चन्द्रिकाविरहिणः शक्यो न चिन्तालवो
भद्रं नाम ततश्चिरं विजयतां सत्यं शिवं सुन्दरम् ।।

यदि तुम स्वयं परम सुन्दर हो, तुम्हारी रति माधुर्य का सार निकालने वाली सन्दोहनी (मथनी) है, तुम्हारा नाम अमृतसागर है, उस सागर के मन्थन से चिद्गगन का मणि प्रेम-शशि समुदित हुआ, जिस चन्द्र की चन्द्रिका में वह लावण्य-सिन्धु ऊँचा उछलता है। किन्तु इस चन्द्रिका को छोड़कर चन्द्र रह सकेगा—यह कथन असम्भव है, वाक्य-विरुद्ध है। इसीलिये बन्धु ! इसे स्थिर मानता हूँ कि जहाँ नाम है वहाँ प्रेम है, जहाँ प्रेम है वहाँ तुम हो। इसीलिये नाथ ! आपके नाम को अधिक बड़ाई देते हैं। सत्य, शिव, सुन्दर जो नाम है उसकी सदा जय हो, नाम ही मेरा प्राण है।

—: ० :—

मृग्यः स वर्यो महान्

वृक्षकौटरमाश्रितोऽपि विहगो मुक्तं नभः कांक्षते
गर्त्ते दर्दु रपानकर्म सहजं मेघस्तथापीष्यते ।
(मेघस्तथापीष्टधुक्)
वायोर्मण्डल एव योऽप्यसुभृतां सिन्धुश्च योऽप्यम्भसां
स्वल्पार्थेन न सिध्यतीष्टमतुलं मृग्यः स वर्यो महान् ।।

विशाल वृक्ष के कोटर में वास है, वहीं रात्रि कटती है; दिनमणि की लालिमा से आकाश रँगे जाने पर वह पक्षी जाग कर ऊँची डाल पर जा बैठता है। वहाँ से भी स्निग्ध मुक्त असीम अम्बर—"दौड़ आओ मेरे पास, मेरे क्रोड में"—कह कर मानो उसे बुला लेता है।

कीचड़-भरे थोड़े से (गड्ढे के) जल में, झींगुर (दादुर) का स्नान-पान सहज ही चल रहा है; तब भी सारे नभ को घेरे मेघों की भरपूर वर्षा में उसे कितना उल्लास होता है, उसी में वह अपने गीत-नृत्य में उन्मत्त बनता है।

छोटी सी, रुँधी किसी खिड़की के झरोखे से थोड़ी सी वायु किसी प्रकार कमरे में खींच कर किसी प्रकार श्वास-निर्वाह किया जाता है। किन्तु विपुल वायुमण्डल में भरे प्राण-अनिल के बिना विश्व के समस्त प्राणियों का जीवन-धारण कैसे सम्भव है ?

कुआँ, नदी, झरना, सरोवर इत्यादि सभी जल-स्थान जल के छोटे-मोटे प्रयोजन (आवश्यकता) को भी आयास द्वारा पूरा कराते हैं। उन सभी का भर्त्ता है सीमाहीन महासिन्धु, उस को सभी चाहते हैं।

अरे ! जीवन के क्षुद्र प्रयोजनों को मिटाने में व्यस्त हो कर प्रेष्ठ (सर्वाधिक प्रिय) वर से तुम चिरवञ्चित हो ! अब भी क्या उस की खोज में नहीं चलोगे जो तुम्हारा सदा से मृग्य (खोजने योग्य) वरेण्य (वरण करने योग्य) वाञ्छित है !!

—: ० :—

न शोभते न सहते

ते भार्यात्मजभारभूभृतमपि स्कन्धश्चिरं स्कम्भते
किं मूर्च्छार्चन-पुष्पमेकमधुना वोढुँ करे शोभते।
दृष्ट्वाऽश्रूणि मृषा शुचोऽक्षियुगले ते लज्जते निर्झरः
कार्पण्यं सहते न वन्द्यचरणे ते नेत्रयोः सैकतम् ।।

पुत्र-पत्नी आदि का मैनाक् पर्वत का सा गुरु-भार वहन करने में तुम्हारे कन्धे दृढ़ व समर्थ हैं। प्रभु की अर्चना का या निर्माल्य का एक पुष्प हाथ फैला कर लेने में मानो मूर्च्छा आ जायेगी ऐसा भारी श्रम पड़ता है। मिथ्या सांसारिक दुःख- शोक में तुम्हारी अश्रु धारा देख कर शायद पहाड़ी मुखर झरना भी लजा जाय। प्रभु के सदावन्द्य श्रीचरणों में एक बूंद आँसू ढालने में कृपण आँख की शुष्कता मरुभूमि भी नहीं सह पाती।

—: ० :—

सरिद्-वारिदौ

सा तन्वी सिकतासु कुण्ठितगतिर्ब्रूते सरिद् वारिमुग्
भो वारीण कथं न मुञ्चसि सखे रिक्तोऽस्मि तामाह सः ।
आदत्से यदिदं कथं न सलिलं दातुं प्रकामं पुनः
सिन्धुं गच्छ कृशाङ्गि ! यत्र भरणं स्यादावयोर्भर्त्तरि ।।१।।

गच्छन्तीं जलधिं स आह जलदस्ते नाथ आह्वायते
सिन्धूद्वेलजलौघपूरिततटे शुष्येन्न ते जीवनम् ।
गच्छामो वयमाहृताम्बुनिचया उत्सं समुद्दिश्य ते
तोयैस्तत्र गिरौ तुषारनिवहं पुष्णाम इत्याशया ।।२।।

बालू में कुण्ठित गति से आगे बढ़ती हुई कृशकाय सरिता बड़ी विनति से ऊँचे मेघ को पुकार कर कहती है —'देखो मित्र ! चली तो हूँ सागर से मिलने । नहीं जानती वह मुझ से कितनी दूर है अभी । किन्तु इस पथ में ही यदि मैं सूख कर निर्जीव होने लगूं तो वन्धु तुम सहायक नहीं बनोगे ? यदि तुम आकाश-मार्ग से मेरी ही खोज में आये हो तो भरपूर अभय-वारि वरसाते क्यों नहीं ?

सरिता के आर्त्तिभरे स्वर से थमकर मेघ मृदु पवन रूपी निःश्वास फेंक कर कहता है—'मैं भी खाली हूँ, क्या करूँगा, कोई उपाय नहीं ।' इस पर सरिता पुनः कहती है—"तब भी मित्र ! मुझे अकेली छोड़ कर तुम चले नहीं जाना कहीं और ! यह लो मुझ से ही कुछ जल ले लो यदि उससे तुम्हारा कुछ निर्वाह हो सके । बाद में प्रचुर वर्षा में यह स्वल्प ऋण चुका देना । उसी करुणा से मुझे अकुण्ठा से भर देना ।"

क्षणभर तक मौन रह कर न जाने हृदय में क्या विचार कर के

मेघ स्निग्ध अनुनय के स्वर में कहने लगा—"हे कृशाङ्गि ! कठिन व्रतधारिणि ! देखो किसी भी प्रकार इस बालू में भी अपनी जीवन रक्षा करती हुई आगे बढ़ती चलो। सागर को ओर चलने से न रुको। प्राणों का अन्तिम लेश तक सँभाले उसी की ओर बढ़ी चलो जो तुम्हारा व मेरा भी पूर्ण-भरण-निलय एकमात्र भर्त्ता है ॥ १ ॥

आश्वासन सुनकर सरिता किसी प्रकार कुछ आगे बढ़ने लगी। उस का साथी है मेघ जो नदी व नदीनाथ के मिलन का दूत है। वह कहने लगा—"अयि भीरू ! अब भय नहीं है; अपने नाथ का विपुल, अद्भुत, उदात्त आह्वान कान खोल कर सुनो तो समुद्वेल (प्रेम-ज्वार में उछलती हुई) सिन्धुजलराशि अभी दोनो तटों को बहा ले जायेगी। उसमें तुम्हारा जीवन भी लीन हो जायेगा, इस का कोई भय नहीं। बालुका के समान शिथिल सभी बन्धनों को निमिष भर में दूर करके असीम की गोद में तुम निश्चिन्त अव्यय (अक्षय) हो जाओगी। और मैं रिक्त हूँ, सिन्धु में से अपने को पूर्ण बना कर जाऊँगा तुम्हारे सुदूर दुर्गम उत्स की ओर—वहाँ उत्तुङ्ग गिरि के सानुदेश में जिस तुषार-निचय में तुम्हारा जन्म हुआ है, उसका तुहिन-वर्षा से पोषण करूँगा—इसी आशा से। उत्स के मुख से विन्दुरूप में तुम्हारा चिरन्तन क्षरण होता रहे; उस विन्दु का सिन्धु में अर्पण मेरा चरितार्थ प्रयोजन हो" ॥ २ ॥

—: ० :—

अन्तःसलिला

यद्दानं वरुणालयाम्बुदचयैर्गर्द्धेन तद्‌बाधनं
दाक्षिण्येन कृपा भवाय गलिता ध्वंसाय भीमा गतिः।

(वामा)

वज्रैरार्द्रशिलाचयो मघवता दीर्णोऽपि घोरस्वनै—
स्तस्यान्तःसलिलश्रुतिस्वरसुधा हृत्कर्णतृप्त्यै परम् ॥

वरुण का आलय सिन्धु करुणा का भी आलय है, स्नेह-गाढ़ मेघ धरती का जीवन है। जो मेघ विगलित धाराओं की सृष्टि करता है, दाक्षिण्य में भी उसकी समृद्धि अकृपण है। यदि गृन्ध्र श्रन्ध प्रमत्त प्रयास से उस कृपा को भोग का साधन बना डालो—समस्त प्राणियों के लिये विगलित स्तन्य सुधा केवल आत्म-क्षुधा मिटाने के लिये है, ऐसा यदि मानो और शाश्वत सावधान वाणी – "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्"—यदि भूल जाओ – तब भी अन्ध स्वार्थ द्वारा घेरे हुए सभी बन्धनों को तोड़ने में वह कृपा ही समर्थ है, चतुर है।

वज्रघोष करते हुए, उन्मत्त प्लावन के रूप से कान्त कृपा भी भीमरूपा होकर उतरती है, केवल अपना भरण करने में रति तथा श्रेय की हानि करने वाली प्रेय-लोलुपता की बलि देने के लिये वह कृपा ध्वंसयज्ञ का यूप बनती है; उस ध्वंस के पङ्क में पुनः सृष्टि का पद्मबीज बोती है।

अच्छा, इस ताण्डव से यदि तुम सन्त्रस्त हो उठे हो; इन्द्र के वज्राघात से तुम्हारी स्पर्धा-दर्प-भरी पर्वत जैसी गरिमा विदीर्ण हो गई हो, घोर ध्वनि से बधिर हुए कानों में 'मा भैः' ऐसी अभय वाणी नहीं सुन पाते; तब भी कान खोले रहो, सत्ता के भीतर गहरे कहीं, विदीर्ण शिलातल के नीचे स्रोत बनने के लिये क्षुब्ध किसी अन्तःसलिला की कल-स्वन-सुधा निरन्तर बह रही है, वही तुम्हारे हृदय व कर्ण का रसायन है।

—: ० :—

अकालवर्षणम्

यद् वर्षासु निरन्तरं जलमुचो भूप्लावनं वर्षणं
हेमन्ते कुसुमाकरे च शिशिरे प्रेयो न तच्छारदे ।
स्रोतोधावनसान्द्रमन्द्रमुखराद्रौ सानुनीडे खगो
कम्पमानः खगो
हेमन्तादिषु पुष्पकोरकरसं ग्रीष्मे झरीं कांक्षते ।।

श्रावण में जलदों के अविरल वर्षण से सभी दिशायें जलमग्न हैं। मुरज-घोष जैसे घन-गर्जन के मन्द्र छन्द से घरा भरी है, सिन्धु स्वाहानाद करता है, मेघ स्वधा-बिन्दु ढालते हैं। प्राणी इन सब को भर लेना चाहता है। इसके बाद धरा अन्तःस्थित रस-मग्नता में मौन डुबकी लगाना चाहती है।

जब उज्ज्वल स्वच्छ आकाश में शारद प्रभात में, वह आँख खोलती है, अपने अनाविल वक्ष पर अभिनव सुकुमार श्रीनिवास शतदलों को देखने के लिये, तब भी स्नेह से ढलमल करता उसका रम्य वक्षसरोवर क्या आततायी असमय-झञ्झा-मेघ रूपी मत्त मतङ्ग के पाँवों से कुचला जायेगा? नवीन कमल-कलिकाओं के खिलने से जो मधुवेणु बजता था, प्यासे भ्रमर के पाँवों में जो मञ्जीर बनता था—वह सभी वज्राहत हो जायेगा?

इस वर्षा से भींगे नीड़ में, भीषण उच्छ्वास भरती स्रोत-राशि के भैरव गर्जन को सुनता, काँपता खग सोचता है—कब कोटि-मेघ-कुम्भों से यह पर्वतराज अन्तिम स्नान करके शरद् के अमल हाथों से अपना प्रसाधन करेगा। हेमन्त का दल पुकार जायेगा—गिरि-सिंहासन को चारों ओर से घेर कर चारों भीतों पर दिगन्त के पट में अनन्त पुष्प-पल्लवों के चारुचित्र आँक देने के लिये!

उन पुष्प-कोरकों के रस, मञ्जरी, मुकुल, फल आदि की आकांक्षा में, वर्षान्त के प्रातःकाल गिरिकोटर में वह खग बैठा है।

ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न में पर्वतों में टकराती-फिरती रूखी नीरस वायु में वह खग दोनों कर्ण-पुट उत्सुक किये रहेगा—कहीं एकान्त में झरते-झरने की ध्वनि सुनने के लिये, जो तृषित को अकुण्ठित भाव से सुधापान कराके तृप्त करेगा, उसी के लिये मानो वह सुन्दर कल-कल स्वर साध रहा है।

त्रितारा

एका तन्त्री परमगुणिनो निर्गुणस्यापि पुंसो
नादोल्लासा 'तु' मिति भने झङ्कृतिभूंमवाणी।
रौक्मा तन्त्री 'हंमिति' नियता या भजन्ती त्वदीयां
तुच्छां तन्त्रीमहमिति ममेति ब्रुवाणां जहीहि॥

हे श्रुतिसिद्ध निर्गुण, परमगुण, पुमान्! तुम अपने ही हाथ से मेरे प्राणों की तीन तारों से बीन बाँध लो। उसका जो मणिमय मूल है उसमें अपने नादोल्लास की ॐकार की धुन भर दो। 'तुहूं तुहूं' ऐसे शुद्ध झंकार में भूमवाणी नित्य नूतन कलरव करती है। उस स्पर्शमणि के स्पर्श से मेरे 'हम' तार को सोना बना लो। उस तार को अपने 'तुहूं' तार से संवादी करके मिला दो।

हे स्वामिन्! तुम्हारी उस धुन को भूले हुए मेरे मिथ्या अभिमान का जो कच्चा तार 'मैं-मेरा' रूप से वेसुरा बज रहा है उस तुच्छ कृपण वाणी के तार को तोड़ दो अथवा यदि तुम चाहो तो उसे रखो, किन्तु

अपनी करुणा की रज में उसे माँजकर अपने गुणगान की गूँज उसमें भरकर उस तार को भी सुरीला कर के तीनों तार बजाओ।

आज ही संध्या के गान में वह त्रितारा बजाओगे ? अच्छा, प्रतीक्षा करता रहूंगा, मेरे प्राण-मणि परमबन्धु ! कि कब भङ्गहीन अवधि-रहित तुम्हारी 'तुहूं' धुन में कच्चे-पक्के सभी तार झंकृत होंगे। तीनों तारों के त्रिवेणी-सङ्गम में मन-प्राण भरपूर होंगे। कब अपने हाथ में उस इकतारे को उठा लोगे।

मृत्युः किमेका गतिः

मृत्योश्चेच्छववन् निषण्णवपुषः शान्तान्निरीहाद् भयं
का भीतिर्वदतो यमादहरहर्नामेति शम्भो हर।
काश्यां चेन्मरणाद् विशोकममृतं दद्याच्च काशीश्वरः
सर्वत्रैव नमः शिवाय जपतो मृत्युः किमेका गतिः ॥

शव के सदृश्य निषण्ण, शुभ्र तनु वाले शान्त, निरीह, निर्विकार हैं महेश्वर ! तब भी मृत्यु उनसे भय पाती है। शव शिव मृत्यु के भी भयास्पद हैं; त्र्यम्बक में नेत्रों की पलकों में मृत्यु की भी मृत्यु जो है ! इसीलिये यदि सर्वदा 'हर-हर शम्भो' किसी के मुख पर है, तो उसे यम का भय क्यों ? काशीधाम में मृत्यु होने पर काशीश्वर कान में तारक ब्रह्म 'राम' नाम सुनाकर विशोक, अमृत ढालते हैं। जो सभी जगह 'नमः शिवाय' जप करता है उसे क्या शिव का किङ्कर कृतान्त (यम) बाँध सकेगा ?

कृतिः कृपा

कैलासेशनिवासवासमनसा पन्था य उच्चावचो
दीर्घो दुर्गमबन्धुरः स्थितधियाऽतिक्रम्यमाणः स्थितः।
(सङ्करसङ्कुलः) (दद्यात् न शान्तिद्रवं)
तस्मिन् किं पथि गच्छते गिरिझरी नादात् प्रकामं पयः
छायाचन्दनलेपनं द्रुमवरः स्नानं सरो मानसम्॥

कैलासेश्वर के चरणों में निवास का जिसे मन हो आया; उसे उँचा-नीचा अत्यन्त लम्बा, सङ्कटों से भरा पथ पुकार कर कहता है 'आओ मुझे लाँघो, मेरा अतिक्रमण करो, देखूँ तुम्हारा अजेय साहस! कितनी कठिन साधना के लिए चले हो अस्थिर (डिग सकने वाली) शिलाओं पर अपना दण्ड (स्थित प्रज्ञा) टेकते हुए। क्षिप्त छन्द (अक्रमिक) वक्ष के स्पन्दनों को देखकर कितनी बार स्वयं ही अचानक ठिठक जाते हो; तुम्हारे नासिका-पुट में कठिनाई से चलता हुआ श्वास कहता है—अब और नहीं; अब तक तो किसी प्रकार चल चुका। पर्वतीय पवन स्निग्ध हिलोरें ले रहा है, तब भी भाल की स्वेद-पंक्ति सूखती नहीं। अन्तहीन चढ़ाई-उतराई पार करने में मेरुदण्ड मानो टूटता सा जाता है, डण्डा काँपता है, हाथ पङ्गु हो रहे हैं। तब भी साहसी अमृत-पान्थ, कैलास-तीर्थ-यात्री! तुम्हारा प्रयास चरम आयास में भी अजर है। अपने वक्ष में कितने बल का सम्बल है तुम्हें! किस हृदय-स्थित देवता का प्रसाद तुम्हारे नेपथ्य में जुटा हुआ है!

केवल इतना ही नहीं, इतने दीर्घ, कठिन तप के बीच, मानो पग-पग पर विपद-आपद् में किसी अमृत का आस्वादन पाते चल रहे हो। ऐसा लगता है मानो तृषित शुष्क आर्त्त कण्ठ में कितने ही झरनों ने उन्मुक्त हृदय से अनाविल स्नेह शान्ति-द्रव ढाल दिया है। कितने घनी छाया

वाले सुरभित देवदारू तुम्हारे पसीने से भींगे अंगों पर चन्दन-लेप सा कर रहे हैं ।

सभी मुखर निर्झर, तटिनो व विहग महान् के ध्यान में मग्न होकर मौन हैं तव कान्त उज्वल स्वर्णिम लग्न में देवता की विगलित करुणा प्रशान्ति मानस-सरसी वन कर तुम्हें अपने असीम स्नेह-गाढ़ता के क्रोड में आकुल प्रतीक्षा के पार खींच कर कहती है —"आओ वत्स ! इस दिव्य मानस अमृत में स्नान करके शुभ्र मूर्त्त महिमा में अपने नित्य शुद्ध अमूर्त्त महादेवता को देख पाने के लिए दिव्य दृष्टि पाओ ।"

मूलं चल

विषगुल्मकण्टकेषु गृहीतोऽपि विमोचितः ।
साधुसङ्गभेषजेन विक्षतोऽपि चिकित्सितः ।।
सन्ततान्यस्य मूलानि साधनामृत—वल्लरीम् ।
वध्नीरन् यदि मूलेषु मूलेनोन्मूलनं कुरु ।।

तुम विष-गुल्म (झाड़) के काँटों में फँसे पड़े थे, सन्तों के कृपा-कटाक्ष से उसमें से छूटे हो, तुम्हारे हृदय पर उन विष-कण्टकों के जो घाव थे, साधुसङ्ग रूपी औषधि के लेप से वे बिगड़े घाव भी ठीक हो गये, तुम स्वस्थ हुए हो ।

तुमने साधन-सुधा की लता बड़े यत्न से उगाई, कितने परिश्रम व सेवा-जल से सींच-सींच कर उसका पालन किया। तब भी (न जाने कहाँ से) विषवृक्ष की जड़ों ने प्रच्छन्न गुप्त मार्ग से चलकर तुम्हारी सुधा-वल्लरी की जड़ों में लिपट कर उन्हें अपने अधिकार में कर लिया, अथवा विषवृक्ष की जड़ो ने सुधा-व्रतति की जड़ों को चुपचाप जकड़ लिया, अपने बन्धन में बाँध लिया।

उस विषवृक्ष को यदि समूल उखाड़ फेंकना चाहते हो, तथा सुधा-वल्ली की जड़ों को उस विषवृक्ष की जड़ों से पृथक् करना, उनके बंधन में से छुड़ा लेना चाहते हो, तों मूल में जाओ, मूल-कृपा माँगो, मूल जप ध्यान करो, केवल मात्र मूल की ही शरण लो।

('मूलं शरणमं वच्छ')

बालूगर्त्त व उत्स

खनसि यदि पिपासुः सैकतं फल्गुवक्षः
पिबसि मलिनतोयक्षीणधारामतृप्तः।
विरमसि यदि यत्ने रिक्तनीरोऽपि गर्त्तः
प्रवहति पुनरुत्से कः क्षमो रोधनेऽस्य॥

प्यास से आकुल तुम फल्गुधारा के बालू भरे वक्ष पर से, हाथों से ही बालू हटाते-हटाते किसी प्रकार एक मलिन, कृपण, क्षीणधारा का थोड़ा सा भाग पाते हो, उतने से ही (अति स्वल्प) जल को पीकर या

मुँह में छुआ कर तुम किसी प्रकार तृप्ति-हीन प्यास को क्षण भर के लिए बुझा रहे हो। वह बालू हटाने का यत्न ज्यों ही छोड़ देते हो त्यों ही बालू में गढ्ढे का चिह्न भर रह जाता है, वह क्षीण धारा भी लुप्त हो जाती है। किन्तु उसी प्रयत्न के समय यदि उस मरु का वक्ष-भेद कर कोई स्रोत फूट पड़े, तो उसके अक्षय अनवरत दान को कौन बाँधे रह सकता है? फिर तो वह तुम्हारे बिना माँगे भी देता ही रहेगा।

भुवनभरण भगवान्

व्रजसि यदि बहिस्त्वं मन्दिरे पश्यसीशं
मनसि तमनुपश्येत् स्याद् यदि ध्याननेत्रम्।
बहिरपि पुनरन्तः पश्यति व्यापिनं तम्
अखिलमनुविशन्तं यः कविः क्रान्तदर्शी॥

विश्वनाथ मेरे घर में कहाँ हैं?—ऐसा सोच कर यदि घर के बाहर देव मन्दिर में जाते हो, तो मध्यमन्दिर में, अखण्ड घृतदीपों के प्रकाश में विश्वेश्वर को देखते हो, प्रणाम, स्तोत्र-पाठ, स्तुति, प्रार्थना आदि करते हो विनम्र होकर। देवता के निर्माल्य-जल से तथा (उनके प्रति प्रणति-निवेदन से प्रेरित) अपने अश्रुजल से यदि नयनों का कुहक-अञ्जन धुल जाता है, तो उन अखण्ड दीपों के आलोक में, स्निग्ध शुभ्र प्रकाशमय तुम्हारा ध्यान-नेत्र खुल जाता है। ऐसा होने पर अपने घर में, एकांत में बैठकर पवित्र उज्वल मानस आसन पर अपने इष्टदेव का अखण्ड ज्योतिरस में स्नान यथेष्ट देखते हो। तब भी यह मानस पूजा अपूर्ण है,

किसी महाविपुल की प्रतीक्षा में। कौन है वह ?—असीम भूमा रसज्योति, जो भीतर-बाहर, यहाँ-वहाँ-सर्वत्र, रात्रि-दिवस-सर्वदा भेद-कुण्ठा रहित हो वही। इसी लिए उस परम आराध्य को,—जो अखिल-प्राणों के स्पन्दन में, अनन्त पुलकों में, अकुण्ठ आलोक में, सुर में, छन्द में, लय में नित्य लीला-परायण, नृत्य-रत है ऐसे-तुमको-सभी भेद-सीमाओं से पार, प्रतिक्षण प्रतिपल देख सकने के लिए हे भुवन-भरण-भगवान्, हे पुरातन कवि ! कब दोगे कवि-दृष्टि !! (अपनी सामान्य दृष्टि से मैंने देव-मन्दिर में अपने इष्ट देवता का पार्थिव-विग्रह देखा, सहायक हुआ वहाँ अखण्ड जलता हुआ घृतदीप। उस दर्शन से मेरे नयन-मन-प्राण शोधित हुए, नये ध्यान-नेत्र खुले। तब अपने ही घर में मेरे मानस आसन पर विराजमान देखा अपने इष्टदेव को, उन्हीं की ज्योति से। किन्तु इतने से ही क्या तृप्ति हो गयी ? तृषा मिट गई ? नहीं, कदापि नहीं। वह तो और बढ़ी ही। पहला इष्ट-दर्शन केवल बाहर हुआ था, दूसरा केवल भीतर। किन्तु मेरा इष्ट तो कहीं यहाँ या वहाँ सीमित होकर रहने वाला नहीं, सुना है कि वह 'भूमा' है, अर्थात् भेद या सीमा की संभावना से भी परे हैं, कैसे देखूँ उस अखण्ड, असीम ज्योतिः रस-घन को ? किनसे सुना कि वह 'भूमा' है ?—सुना है ऋषि-वाणी में। ऋषि तो क्रान्त द्रष्टा कवि हैं न ! वैसी कवि-दृष्टि के बिना "भूमा" को कौन देख पाया है भला ! अच्छा, तो वह कवि दृष्टि कौन देगा मुझे ?—'भूमा' स्वयं ही तो 'पुराण कवि' (गीता ८/९) हैं। आर्त्त जीव द्वारा पुकारे जाने पर वे ही 'भुवन-भरण-भगवान्' भी हैं। उन्हें देखने की सच्ची लालसा हो तो वे ही दे देते हैं—भेद-सीमा के परे देखने की शक्ति—क्रान्तदृष्टि = कविदृष्टि।)

चिन्तामणिः

यद् भोगायतनं शरीरमशुचि क्लेशाहिशङ्काकुलं
चिन्ताग्निज्वलनेन्धनं जतुगृहं का तत्र भद्रैषणा ।
भोगो मे यदि योगसाधनपरः कर्मापि सेवापरं
(क्लेशोऽपि सेवातपः)
चिन्ता चेन् मधुपाच्युताङ्घ्रिकमले श्रीनाथगेहं तनुः ।
(श्रीनाथलीलालयः)
हृच्चिन्तामणिचिन्तनैकरसभुक् चिन्तापि चिन्तामणिः ।
(चिन्तनाच्युतरसा)

भोग ही सर्वस्व हो तो भोग का आयतन (आश्रय) यह शरीर अवश्य ही असार, अशुचि है। उस दशा में पञ्चक्लेश विषधर सर्पों के समान, अथवा पाँच फणों वाले नाग के समान अपने सभी फणों को फैलाये भीषण त्रस्त करने वाली स्थिति सदा ही बनाये हुए हैं। इतना ही नहीं; वह देह लाख से बने भवन के समान है, और चिन्ता रूपी अग्नि के स्पर्श से वह बचा नहीं है। कहो तो उस घर में सच्चे सुख का सपना कैसे देखोगे ?

तब भी वह देह तुच्छ नहीं है, यदि तुम्हारा भोग योग का साधन रूप हो। भोग में योग का योग में भोग का सम्मिलन हो। और जो क्लेष-विष की ज्वाला है वह जीव-सेवा-योग में हवन करना हो (उस ज्वाला को जीव-सेवा, भगवत्सेवा रूप योग के अङ्ग-भूत होम की अग्नि बना लेना)। तुम्हारा कर्म हो—सभी जीवों में अपने इष्ट-देव का भाव रखते हुए सेवा-निवेदन।

जीवन को ज्वलित चिता का सा बना देने वाली जो तुम्हारी चिन्ता

है, उसे अच्युत के चिन्तन रूप में न बदल दोगे क्या ? उन्हीं के चरण कमलों के मधु रस में चिन्ता रूपी भ्रमरी क्या कभी भी मगन न हो जायेगी ?

वैसा यदि हो जाये तो योग, सेवा, प्रेम इन तीनों का त्रिवेणी-संगम होगा। उससे यह शरीर भी परम तीर्थ बन जायेगा। सर्वदा ही समीप रहने वाला देवालय होगा यह, श्रीनाथ का नित्य लीलानिकेतन।

चिन्ता फिर अपने ही विष से जर्जर हो जायेगी। किन्तु हृदय के नाथ जो रसचिन्तामणि हैं, उन्हीं में नित्य, एकरस, च्युतिहीन भाव से उन्हीं के सङ्ग-सुख की विलासिनी बन जावे चिन्ता, तब तो वह चिन्ता-मणि है; उन (हृदयेश्वर) के स्पर्श से स्वभावत: विष स्वरूपा भी चिन्ता सुधारसायन हो जाती है, उसका प्रभाव विष के दाह जैसा न होकर अमृत-स्यन्दिनी जैसा होता है।

"चेतोदर्पणमार्जनम्"

अन्त:पारदलिप्तपृष्ठमुकुर: स्वच्छो भवेत् तद्वहि
(स्वच्छो न चेत्ते वहि)-
र्मालिन्यस्य तिरस्कृतौ तवकृतिश्चूर्णादिभिर्द्रावकै:।
चेतोदर्पणमार्जनेऽपि जप तन्नामानि यावत् श्रुतम्
नेत्रादश्रु न वक्षसि ह्यपुरतो योऽन्त: पुमान् पारद:॥

भीतर से पारद (पारा तथा अन्य मसाला) लगे तुम्हारे दर्पण को यदि बाहर से स्वच्छ न देखो, तो झाड़ पोंछ कर अथवा साबुन, सोडा

आदि किसी चूर्ण या द्रावक वस्तु से रगड़ कर जल से धोकर उस मालिन्य को दूर करने का यत्न करते हो। किन्तु दर्पण की भीतरी सतह में लेपित जो पारद है, उसमें यदि कोई दोष, कोई न्यूनता रह जाय तब उस दोष तो हटाने के लिये उस दर्पण को निर्माता के ही पास ले जाने के सिवा क्या उपाय होगा ?

तुम्हारा भी जो अपना चेतस् (अन्त.करण) रूप दर्पण है, जो भीतर-बाहर की सभी भावनाओं वस्तुओं का प्रतिबिम्ब लेता रहता है। उस में कोई छवि देख कर तुम लुब्ध हुए पलक नहीं गिराते, और किसी छवि पर से आँख फिर जाती है (हट जाती है स्वयं ही)। जहाँ लुब्ध होते हो तुम, उस की ओर मत्त हो कर दौड़ते हो, पर वह केवल रङ्गीन कुहकी (देखने भर को सुन्दर, वस्तुतः तथ्यहीन बुद्‌बुद्) को ही छूना है। सभी साधें (आशा-आकांक्षाएं) आर्त्ति (उस को प्रोति के लिये आकुलता) ढाल देते हो। मन मुकुर के उन झूठे प्रतिबिम्बों के खेल पर धोखा ही जिनका सार है, सारी भीतरी-बाहरी चेष्टायें तुम्हारी व्यर्थ जाती हैं, होता क्या है उस से ? तुम्हारा चित्त-दर्पण मैला होता चला जाता है, भीतरी बाहरी विविध मलिनताओं से।

इसीलिए महाप्रभु के मुख से—चेतोदर्पण के मार्जन की वाणी सुनते हैं। मन-दर्पण पर जो स्थूल रजस् (धूल, मैल) है उस के मार्जन के लिए, विधि के अनुसार तथा जितना बन सके (यथासाध्य) इष्टनाम लो। और भीतरी मल के निरसन के लिए, एकमात्र उपाय है उसी नाम के नामी के प्रति अपनी आर्त्तिनिवेदन के समय नयनों से निकल कर वक्ष पर पड़ने वाला दो बूँद जल। अपनी दीनता के अनुभव, अपने पाप-अपराधों के स्मरण से उठी आत्मग्लानि से तप्त हृदय में अकारण करुण हरि की अनुकम्पा की शीतल स्मृति जगने से उठा बाष्प जब नयन-पथ से झरने लगे तो वही होगा उस मल का क्षालक।

और, इस के भी अन्तराल में, नेपथ्य मे छिपे जो चतुर चोर जैसे मल हैं (सूक्ष्म अहङ्कार, लोकैषणा के विविध सूक्ष्म रूप, जो बाहरी

आचार-व्यवहार बहुत ठीक एवं भक्ति के अनुरूप हो जाने पर भी, भीतर छिपे हुए साधना-सुधा में विष घोलते रहते हैं, भक्ति-लता के मूल को दीमक के समान निस्सार कर डालते हैं) ऐसे सुप्त-गुप्त मलों, के क्षालन में तो केवल उन (श्रीहरि) के प्रति सर्वात्मनिवेदन ही एकमात्र उपाय हैं—"हे मेरे अन्तर् के स्वामी, मेरे भर्त्ता, पारदाता सर्वेश्वर, दयानिधान ! तुम ही अपने हाथों मुझे अपना बना लो, मेरे 'मैं' पन ('अहं', को तुम ही अपना दर्पण बना लो। तुम ही दया करके ऐसा कर दो कि मेरे चित-दर्पण में केवल तुम ही प्रतिबिम्बित रहो।"

मायाधीश ! तव स्वविम्बरचना सैकोऽहमेवेति चेद्
विम्बस्य प्रतिबिम्बचित्रफलनं तच्चापि ते 'स्यां बहु'।
सर्वेषां यदि बाध एव युगपद् बिम्बे स्ववाधं गते
(बिम्बे स्वयं बाधिते)
द्रागेकस्य गतस्य तेऽङ्घ्रिशरणे माया प्रभो बाधिता ॥१॥

मायाधीश ! कहो तो तुम्हारे 'आदिबिम्ब' की रचना कैसे होती है ? 'मैं एकाकी हूं, एकेश्वर हूं'—इस आदिम ईक्षण में ही क्या वह पहले-पहल व्यक्त हुई है ? और वह आदिबिम्ब अपने विचित्र माया के दर्पण में विचित्रित 'प्रतिबिम्ब' बना है 'बहुत होऊँगा' ऐसे तुम्हारे सङ्कलन में !

पहले तुम एक ही थे, जो थे वही थे। फिर अपनी एकता का ईक्षण करने में आदिबिम्ब बने; फिर माया के दर्पण में तुम्हारे नाना प्रकार

से प्रतिफलित होने से बने अनन्त प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब। यदि किसी अनजान विचार में तुम अपना मायारूप दर्पण फैलाते हो और उसमें प्रतिबिम्बित हो जाते हो, फिर वैसे ही किसी अनजान ख्याल में स्वयं ही उसे संवृत कर लेते हो, समेट लेते हो। तब, (दर्पण समेट लेने पर) ऐसा प्रतीत होता है, कि तुम स्वयं भी 'आदिबिम्ब' (इस पद के वाच्य) नहीं रहोगे, और तुम्हारे वैसा न रहने पर भवदर्पण में कोई प्रतिबिम्ब भी क्योंकर रहेगा? (जब न बिम्ब होगा न दर्पण तो प्रतिबिम्ब की सम्भावना कहाँ? इसका अर्थ यही होगा कि सभी (अनन्त प्रतिबिम्ब रूपी अनन्त जीव) एकसाथ भेदहीन, समरस, महाश्चर्य, अद्भुत 'तूष्णीं' (अखण्ड मौन) घनता में निर्वाण पा जायेंगे। यह तो ठीक है, किन्तु प्रत्येक जीव को उस निखिल-निर्वाणक्षण की प्रतीक्षा में बैठ रहना होगा क्या!

हे मायाधीश प्रभो! कोई अकेला ही जीव यदि तुम्हारे परमपद की शरण में आये, तो क्या वह शीघ्र ही उस विष्णुमाया के पार नहीं जा सकेगा, जिस माया के कारण उसका संसारबन्धन है। तुम साकल्य में माया के ईश्वर हो (समष्टिमाया के अधिपति हो) तो क्या व्यष्टिमाया पर तुम्हारा वश नहीं है? सभी को एकसाथ ही मुक्त कर सकते हो, किसी अकेले को मुक्ति नहीं दे सकते! जब तुम्हारी नौका समस्त जीवों से भर जायगी तभी क्या तुम भवखेया पार करोगे? कोई अकेला घाट पर आकर धूल में बैठा हो, दीन होकर पुकारता हो—'हे दयामय, मुझे पार करो'—कहता हुआ, उस आर्त्त प्रपन्न के लिए ही तो तुमने वचन दे रखा है कि 'तुम अवश्य ही मेरी दैवी, गुणमयी दुरत्यया माया को पार करोगे', और भी साध है तुम्हारी—कि जिसे तुमने माया के पार कर दिया है, अपने समीप ले गये हो वह पुनः आयेगा इस पार साधु-सन्त रूप में, यहाँ जितने आर्त्त जीव हैं, उनको उस पार जाने के घाट का पथ दिखाने के लिए; सभी जीवों को प्रेम देकर उनका भी अन्तस्तल

भर देने के लिए। और आप स्वयं भी युग-युग में अवतरित होकर साधु-सन्तों के प्रेमयोग में स्वयं पूर्णाहुति देंगे। (जैसे इस युगचतुष्टयी में महाप्रभु गौरसुन्दर के रूप में किया)।

"विषं सान्द्रे सुधाब्धौ सुधा"

वालोऽसौ जननीं दता दशति वा केशेषु वाऽऽकर्षति,
पृष्ठे वोद्यतमुष्टिकः प्रहरति क्लेशाय किं तत् क्वचित् ?
(प्रह्लादनायैव तत्)।
तत्प्रेमामृतनित्यपूरितहृदां सर्वेषु तर्द्दशिनां,
(तन्नामामृत-)
(नित्यं तच्चरणामृताप्लुतहृदां)
(नित्यं नामरसाब्धिमग्नमनसां)
शोकाशीविषदंशनादपि विषं सान्द्रे सुधाब्धौ सुधा ॥

यह देखो, शिशु ने अपने नये-नये दो दाँतों से अपनी माँ को काट लिया। नन्हीं सुकोमल बाँहों से जननी के केश भी चाहे जैसे पकड़कर खींच लिए। और कभी अपनी छोटी सी मुट्ठी बांधकर अपने शरीर का पूरा बल प्रयोग करते हुए उसने माँ की पीठ पर घम-धम मार भी दिया। माँ के मुँह से निकल रही है उह ! उह ! ध्वनि, और— 'अरे मुन्नू चोट लग रही है, छोड़ दो वेटे !—इतनी सी वात में उसकी वेदना का भान हो रहा है। किन्तु स्नेहरस से भरपूर मन-प्राण वाली

जननी को वह व्यथा भी कितनी मधुर प्रतीत होती है, कितनी साध से मिला धन है वह उसका !

इसी प्रकार, उन प्रभु, (भगवान्) के प्रेमामृत रस से भरपूर हों जिसके मन-प्राण; संसार में सर्वत्र उन्हीं को देख पाते हों जिसके प्रेम-पगे नयन; उसके हृदय में सांसारिक शोक-भुजंग का दंश लगने पर भी अन्तर के निबिड़ असीम सुधारस में मिलने से वह विष भी अपूर्व सुधा-रसायन बन जाता है। (प्रभु के प्रेम में मतवाले को सांसारिक कष्ट भी प्रभु की प्रीति के ही परिचायक प्रतीत होने से मीठे ही लगते हैं)।

यो ग्रासिनां ग्रासकः

संसाराख्यसरोगभीरसलिले ग्राहोऽस्ति मोहो महान्
मायाभिः कुमुदादिफुल्लकुसुमैः सृष्टो विलासोऽद्भुतः।
तत्राकृष्टजनं विहङ्गमधुपैर्ग्राहेण सन्त्रासितं
पायान्नाथ तवाङ्घ्रिपद्ममहिमा यो ग्रासिनां ग्रासकः॥
(ग्रासक्षमो ग्रासिनाम्)॥

इस संसार नामक मायासरोवर के गहरे जल में भीतर ही भीतर सञ्चरण करने वाला एक ग्राह रहता है, उसका नाम है—महामोह। इसके कुहक-विलास से तथा (माया के ही अन्य विविध रूप) कुमुद, कल्हार इत्यादि पुष्पों के भरपूर खिले रहने से वह मायासरोवर बड़ा ही नयनाभिराम, मन-मोहक बना हुआ है। उस पर से नाना पक्षियों के कलरव और भ्रमरों के गुञ्जन इत्यादि की मधुर ध्वनियों में मानो

सम्मोहन वंशी बजती है। जिससे विह्वल, आकृष्ट होकर जीव भीतर घुस पड़ता है, चपल नन्हें से, मधुकरण के लोभ से सर्वंग्रासी ग्राह के मुँह में गिर जाता है।

हे नाथ! आओ! उस आर्त्त, संत्रासित की रक्षा करो, त्राण करो, अपनी अघटन-घटन-पटु श्रीचरण-कमल-महिमा द्वारा, जो महिमा सर्वग्रासी अन्तक (मृत्यु) का भी अन्त करने वाली, अमृत, अभय आश्रय रूपा है।

महामाया

मायाधीनजनं वशं नयति या मुक्तं न बध्नाति सा
मायेशीचरणारविन्दशरणं हेतुः सताम् मुक्तये।
हेतुर्बन्धविमुक्तये च परमा बन्धेऽपि सा चेश्वरी
किं माया महतीति वक्तुमुचितं मायाऽपि यत्किङ्करी ॥

जो मायाधीन जीव हैं, उन्हें, तुम्हारी माया अपने वश में रखती है। जो मुक्त हैं, उनको बाँधती नहीं, अतः वे माया के वश में नहीं। उस माया की अधीश्वरी तुम महामाया हो। तुम्हारे प्रति प्रपत्ति, तुम्हारे चरणों की शरण में आना, माया के जाल से चिरमुक्ति पाने का कारण (उपाय) है। बन्ध और विमुक्ति का तुम परम कारण हो। इनको घटित करने वाली माया तो तुम्हारी दासी है। उसी माया शब्द में ही 'महा' विशेषण लगाकर क्या तुम्हें कहें (तुम्हें 'महामाया' नाम दें)?

श्रद्धा

तालौ सम्पातिता शक्तिः शकारेणास्ति केन्द्रगा ।
तस्या रेण च तेजोभिर्घनीभावः प्रसज्यते ॥ १ ॥
तकारेण हलन्तेन तस्याः प्रक्षेपणं तले
धेन धृतिश्च क्षेमाय ह्यवियोगसमुच्चयात् ॥ २ ॥
अमोघा या भवेच्छक्तिर्योगक्षेमाय केन्द्रगा ।
आकारेण च तद्व्याप्तिः खे यद्वत् सौरतेजसाम् ॥ ३ ॥
केन्द्रीणत्वमसूनाञ्च चित्तस्याप्येकतानता ।
आपूरित्वमङ्गानां श्रद्धेति वर्णविक्रमात् ।
अतः श्रद्धा परा साध्या श्रद्धैव परसाधनम् ॥ ४ ॥

तालु रूप दर्पण पर, प्राणवायु-शक्ति का सम्पात होने पर 'श' अक्षर आविर्भूत होता है। इससे, हम समझते हैं कि सर्वशक्तिसम्पात-नियम केन्द्रीभूत हुआ। (श् के आगे स्थित) र वर्ण से उस केन्द्र में घनीभूत तेज का आधान होता है। हलन्त तकार उस शक्ति का किसी तल पर प्रक्षेपण करता है। केवल प्रक्षेपण से शक्ति का अपचय होता है, केन्द्र में योगक्षेम नहीं होता। इसीलिए 'ध' वर्ण उसमें धृति लाता है, जिससे योगक्षेम का समुच्चय होता है। जिसके फलस्वरूप केन्द्र-स्थिता महाशक्ति घन, अमोघ बनेगी। 'आ' कार में उसकी व्याप्ति है, जैसे आकाश में सौर तेज-घन की। योगक्षेम रूप छन्द (नियम) के शासन में उस व्याप्ति में शक्ति का सार्थक समर्थ विकिरण होता है।

इस प्रकार 'श् + र + त् + ध् + धा' (=श्रद्धा) इन पाँच अंगों के वर्ण-विक्रम में सभी मन्त्रों की प्राणशक्ति केन्द्रीभूत होती है। चित्त एकतान हो जाता है, चित्त का, वाणी का विक्षेप दूर हो जाता है। जैसे शान्तिपाठ मन्त्र में सभी अंगों में आप्यायनी शक्ति भरती है।

इसीलिए श्रद्धा परम साध्य भी है, परम साधन भी। पूजा, ध्यान, होम, जप-व्याहरण सभी साधन श्रद्धा के साधन हैं। जप में विन्दु है महाकेन्द्र, प्राण-मन सहित नाद का उत्थान व विलय उसी में है। सभी कलाओं का आपूरण कर के अग्नि में दीपन, सोम में आप्यायन होने पर नाद, प्राण, मन बिन्दुनिष्ठ होते हैं; और उनका उदय-विलय एकतान होता है श्रद्धा में आकर।

वि० द०—श = Energy finding to a foam.

श्र = Energy 'forced' and charged (accelerating).

श्रत् = Tendency to 'dissipate'.

श्रद्ध = 'Conserved' and 'concentrated'.

श्रद्धा = 'Pervasive' in integral accordance.

['श' 'श्र' 'श्रत्' 'श्रद्ध' 'श्रद्धा'—इन पाँचों का ठीक प्रकार से उच्चारण करके देखो। जप में जब तक 'ॐ' 'ॐ' इत्यादि कर रहे हो, उतनी देर 'श्रत्' व्याहरण की पूर्णाङ्ग रीति से करने पर 'श्रद्धा' पर आओगे। यज्ञ में आज्य आदि की आहुति 'श्रत्' आकृति में रहती है जब तक कि पूर्णाहुति एवं श्री यज्ञेश्वर को यज्ञफलसमर्पण द्वारा वह 'श्रद्धा' संज्ञा के अन्तर्गत नहीं आ जाती। ध्यान, अर्चना, भाव भी उसी के अनुरूप हैं। गुरु-इष्ट-नाम में 'श्रद्धा' विशेष रूप से विवेच्य है।]

———

दामोदरः

दाम्ना बन्धनचेष्टितं न सफलं संयोजितेनापरैः-

ह्रस्वं द्व्यङ्गुलिमात्रमस्य वलयं दृष्ट्वा यशोदाऽऽकुला।

आत्मेच्छां तव बाधते न यदि मां पूर्णात्मकामं विभुं

वात्सल्यैकरसार्द्रपाशवलये वद्धोऽस्मि मातस्त्वया ।।
(सान्द्रस्नेहरसालपाशवलये वद्धोऽस्मि मातस्त्वया ।।)

अत्यन्त चञ्चल, चपल-शिरोमणि नीलमणि (बालकृष्ण) को माँ यशोदा आज रस्सी से बाँधना चाह रही हैं। किन्तु बाँधने वाली रस्सी छोटी पड़ रही है। केवल दो अङ्गुल बड़ी होती तो ठीक बाँधा जाता। और रस्सी लाकर उसमें जोड़ दी, किन्तु यह क्या ? जितना भी जोड़ती है कुल रस्सी फिर दो अङ्गुल कम पड़ जाती है, नन्हें गोपाल को लपेट नहीं पाती। उसे बाँधने के लिये कितनी कठिनाई हो रही है माँ को, केवल दो अंगुल रस्सी के लिए।

गोपाल वेश में स्थित भगवान् माँ का अन्तर् परख कर मानो माँ से कहते हैं—"मैं तो विभु, पूर्ण आत्मकाम हूं. मुझे कैसे व किससे बाँध सकोगी ? जब तक जीव अपनी इच्छा को स्वतन्त्र रखता है, उसे मेरी इच्छा में मिला नहीं देता, मुझे नहीं सौंप सकता, मेरी इच्छा को स्वीकार नहीं करता (मेरी इच्छा को ही अपनी इच्छा नहीं समझ लेता, मेरी इच्छा से पृथक् ही अपनी इच्छा रखता है) तब तक उसके भाव में, चिन्तन में, व्यवहार में धर-पकड़, दौड़-भाग, अस्थिरता, परेशानी बनी रहती है। तब तक 'डोर' (मुझे समझने या पाने की उसकी सारी चेष्टायें) वही दो अंगुल छोटी रहती है। 'मैं' चलता है 'तुम' को पकड़ने के लिए, 'तुम' कहता है 'मेरे' होकर फिर मुझे 'तुम्हारा ही' बना लो।"

तुम (यशोदा) तो मेरी प्यारी मय्या हो, तुम्हारा वात्सल्य रस अब 'एकरस' हो आया है। उसी सान्द्र स्नेह से रसाल पाश के वलय में अपने गोपाल को सदा-सर्वदा के लिये बाँध रखो मय्या री ! इस पाश से मैं कभी नहीं छूटने का ! न ही यह पाश अपर्याप्त होगा मुझे बाँधने में।

को धीरः ?

को धीरो न विचाल्यते हिमगिरिर्यद्वत् प्रचण्डानिलैः
कः शान्तो न हि लिप्यते घनघटालेपैर्यथा चाम्बरम् ।
मुक्ते व्योम्नि च चन्द्रिकेव रुचिरा कस्य प्रसन्नस्य भाः
वैशाखेऽसितरुद्रमेघपटले लास्यश्च कस्याद्भुतम् ।।

कौन ऐसा धीर है जो प्रचण्ड तुषार-झञ्झावात में हिमगिरि के समान स्थिर अविचल रहता है ? कौन ऐसा शान्त है, जो भयावने घन-घटा-घोर के समय भी महाकाश के समान निर्लेप निर्मल रहता है ? किसकी नित्य प्रसन्नता मुक्त आकाश में रुचिरा चन्द्रिका के समान स्निग्ध, सौम्य, अकुण्ठ उज्ज्वल प्रभा बिखराती है ? कौन वह लास्य-कौतुकी है कि कालवैशाखी की घनी-अँधियारी रुद्र मेघमाला में, सौदामिनी की चमक में गम्भीर मेघगर्जन में जिसका अपरूप चञ्चल नटन हुआ करता है ?

———

कालिन्दीदोलस्तथा कालियदोलः

आद्यो दोलस्तयोर्यः सुललितसुषमस्तेन विश्वस्य लास्यम्
उल्लासो वा विलासोऽपि निबिड़मधुरा रासलीला व्रजे वा ।
मायाभिर्जीवजाते सुविषमविषमः प्राकृतस्तद् विपाकः
कालिन्दीमन्ददोलो ललित इह भवे कालियावर्तदोलः ।।

वह परम नवल युगल (श्रीराधा-माधव) जिस अपरूप, सुललित, सुषम आदिम झूले में लीला-विलसित हैं उसी में विश्व-लास्य का

रूपायण हैं। विश्व के निखिल उल्लास-विलास ने, अनुपम, अकथ छन्दों व सुरों का अवलम्ब लेते हुए उस झूलन में अभिव्यक्ति पाई है। केवल विश्व का ही नाटच नहीं, नित्य व्रजधाम, नित्य रासलीला, जो निबिड़ रसमाधुरी की परिसीमा है—वह भी इस आदिम मधुर युगल का मधु-दोलन ही है।

कहो तो किस विपरीत कुहक से उस अमिय-दोल (अमृत-हिंडोले) का ऐसा स्वभाव बदल गया (प्रकृति का दुर्विपाक हुआ) कि पीयूष बन गया गरल, सुषम बना विषम, जिस विषमता से जीव का समस्त भीषण आवागमन का चक्र घोर वेग से चलने लगा। (यह विषम-गरल-हिंदोल भी केवल यहाँ नहीं) वृन्दावन में एक ओर शरद् रात्रि में कालिन्दी के सुरम्य तट पर, ललित, मन्थर, मुरली, मञ्जीर इत्यादि से सधा, सजा नृत्य रूप झूला है। उधर कालिय-कूर में कालकूट-भरे आवर्त पर भी वही नर्तक झूल रहा है।

———
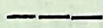
नानामूर्त्तौ द्विभुजमुरलीधारणं काऽपि पश्येत्
गौरो राधारञ्जितरुचिर्विग्रहे मन्दिरस्थः।
रत्या यस्यास्त्यजति चतुरो वासुदेवोऽपि दोषः
कृष्णे स्वेच्छातनुविलसनी भङ्गिमा च स्वकीया ॥

नित्यवृन्दावन में क्या वही कृष्णस्वरूपाभिन्ना समर्था नायिका हैं जो भगवान् की नाना मूर्त्तियों में एकमात्र द्विभुज मुरलीधर, अपने श्यामसुन्दर के ही दर्शन करती हैं; जैसे कि—

अपनी इष्टदेवता कालीमूर्ति में । श्रीराधा वहाँ पुजारिणी के रूप में बैठकर भी कहाँ देखती हैं असि, मुण्डमाला और अस्थि-मेखला ! वे तो देखती हैं अपने प्रियतम के गले में वनमाला, हाथ में मुरली, और कटि में पीताम्बर । इसीलिए तो माँ की मूर्त्ति के सामने बैठकर गुन-गुन गाया करती हैं—

"मेरे धर्म-कर्म सभी तो गये, दुर्गा-पूजा तो मुझसे हुई ही नहीं । माँ के अरुण चरणों में पुष्पाञ्जलि चढ़ाती हूं तो त्रिबङ्किम भङ्गिमा वाले चरणों की ही छाया या छवि मन में छाई होती है ।"

हमलोग सखी-भावानुग-भाव से कहते हैं - नहीं प्यारीजू ! केवल मन में ही नहीं, तुम्हारे मन, प्राण, इन्द्रिय सभी में ही (वह छवि समाई हुई है) !

और उस दिन भी नदिया में गोकुल के कृष्ण जब आये, राधाभाव-सुवलित-तनु गौर सुन्दर रूप में, तभी श्रीक्षेत्र में मन्दिर के भीतर गरुड़-स्तम्भ के समीप खड़े होकर जगन्नाथ के श्रीविग्रह में कौन सा रूप देखा था उन्होंने ! किसकी ऐसी समर्था रति है जिसके प्रभाव से शङ्ख-चक्र गदा-पद्मधारी चतुर्भुज नारायण भी अपनी चार बाहुओं का संवरण करके द्विभुज मुरलीधर नन्दनन्दन हो रहते हैं । अच्छा यह अत्याश्चर्य समर्था नायिका स्वरूप से क्या है ? पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा में विचित्र तनु तथा विविध लीलाविलास की जो स्वरूपशक्ति है, जो कि श्रीकृष्ण के स्वरूप से नितान्त अभिन्न हैं, वे स्वकीया शक्ति ही बनी है श्रीराधा । इसीलिये श्रीराधा की इच्छा ही श्रीराधारमण की इच्छा है । श्रीराधा की इच्छा से ही राधारमण विविध नाम व रूपों में विलास करते हैं, और उन्हीं की इच्छा से वे इन सब विचित्र लीला-विलास के समय द्विभुज मुरलीधर रूप से अच्युत हो रहते हैं ।

———

काऽसौ दृष्ट्वा नवजलधरं पश्यति श्याममेकं
कालिन्द्यां वा प्रतिफलनदं नीपशाखासु कृष्णम् ।
श्रुत्वा केकायितशिखिरुतं गुञ्जनं भृङ्गराजो
वंशीमञ्जीरललितसुरातायनं का शृणोति ।। १ ।।

स्वादे तस्यैव मधुररसं सौरभं तस्य गन्धे
स्पर्शे चाङ्गे स्फुरितपुलकं तस्य पीताम्बरस्य ।
भावे चान्तर्विलसनरसं देहगेहेषु लास्यं
प्राणेषु प्राणपतिरमणं केवलं स्वादयन्ती ।। २ ।।

श्रीकृष्ण की अभिन्नस्वरूपा जो राधारानी हैं, उन्हीं का भाव इन दो श्लोकों में कहा गया है—गगन में नवोदित श्याम जलधर को देखकर वे अपने घनश्याम-सुन्दर को ही एकमात्र देखती हैं; फिर कालिन्दी-सलिल में प्रतिबिम्बित घनी कदम्ब शाखा में बैठे श्रीकृष्ण की प्रतिछवि को देखकर वे उसे प्रतिछवि नहीं समझतीं; परन्तु यमुनाजल में नृत्य करते हुए लोल लहरियों के साथ केलि-कौतुक करते हुए कृष्ण को देखती हैं। इसीलिये तो वे अपना काम-काज सब भूल कर अगाध यमुना-जल में कूद पड़ती हैं अपने प्रियतम के निबिड़ आलिङ्गन की लालसा में। फिर, वृन्दाविपिन में मयूर जब केकाध्वनि करते हैं, निकुञ्जों में भृङ्गराज गुनगुनाते हैं, तब वे इस सबको सुनकर (इन सब ध्वनि-गुञ्जनादि में) सुनती हैं केवल अपने प्रियतम का वंशीरव और उनके चरणों के नूपुर का मधु निःस्वन।

सभी रसों के आस्वाद में वे उन्हीं का मधुर रस, सभी गन्धों में उन्हीं के श्रीअङ्ग का सौरभ, सभी स्पर्शों में अपने प्रियतम के स्पर्श से अपने अङ्गों में उत्पन्न होने वाले रोमाञ्च-पुलक, हृदय के सभी भावों में उन्हीं के विभाव, विलास का रस, बाहर के देह-गेह सभी कुछ में

प्यारे का ही भुवनविमोहन लास्य, अपने प्राणों में उन्हीं प्राणपति की रमण-सुधा—केवल उस एकान्त कृष्णसायुज्य सुख का ही वे आस्वादन करती हैं।

———

एका भृङ्गी कमलमधुनः स्वादमग्ना दिनान्ते
तस्मिन्नेव प्रमुदितदले याति तूष्णीं सुषुप्तिम् ।
अन्या काचित् कमलमभितो गुञ्जनान्ते च शेते
स्तोकं स्तोकं कृतपरिचरा मक्षिकाऽन्यत्र याति ।।

———

श्रीराधा—यमुनाम्बुकल्लोलकेलिकुतूहली, क्रीडति सखि ! माधवः ।
ललिता—सलिले स राधाङ्गसङ्गसुधालुभा, लुण्ठिततनुवैभवः ।
विशाखा—सलिले विमुग्धे न नोपतरौ तटे, पश्य मुरलिकाकरं
मधुमञ्जरी—सखि ! नन्दगोपेन्दुछद्मसुगोपितं, गोकुलमनुधावनम् ।

विशाल, उदार, स्वच्छ सरोवर में एक प्रफुल्ल अरविन्द अपनी शत-पँखुड़ियों को खिलाये हुए सुशोभित है—देख रहा हूं। उसके आस-पास अन्य भी अनेक जलज पुष्प खिले हुए हैं। एक भ्रमरों की रानी उस प्रफुल्ल पङ्कज में ही केवल अपना मधुविलास कर रही है, और उस निबिड़ मधु-रसास्वादन में मानो डूबी हुई है। यह तो हुआ दिवस-काल का समाचार। दिनमणि अस्त होने पर वह प्रफुल्ल पङ्कज अपने शत-दल मूँद लेता है। वह भृङ्गरानी क्या वहाँ से हट जाती है? नहीं वह नहीं जाती। वह तो उसी मुदित पङ्कज के ही एकान्त मौन रसास्वाद की गाढ़ता में मानो विभोर, खोई हुई-सी रहती है। यह हुई उसकी मधुरस में आत्मसंवित् खोकर सान्द्र रसभीनी सुषुप्ति।

पुनः और एक भ्रमरी देखता हूं इस अरविन्द के समीप उड़ रही है, कभी इसकी पँखुड़ियों के अञ्चल पर एक-आध बार बैठ भी जाती है, एवं रात्रि में जब यह पंकज मुदित हो जाता है, तब भी, देखता हूं कि, वह इससे दूर नहीं जाती, इसके समीप ही कहीं भी चाहे इसके पत्तों में ही छिपकर सो रहती है।

किन्तु जो चटुल मक्षिका है, उसका स्वभाव क्या है ? वह एक-आध वार इस पद्म में मधुसंग के लिये आकर बैठती है अवश्य, किन्तु दूसरे ही क्षण अन्य किसी की लालसा में अन्यत्र उड़ जाती है (एकनिष्ठ नहीं रहती)।

पहले जिस भृङ्गरानी की बात कही गई वह हैं महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा। उनकी रति समर्था है। उसके बाद जिस भ्रमरी का प्रसङ्ग आया वह है महाभावानुगा रति, जैसे—ललिता व विशाखा। ये क्या करती हैं ? ये श्रीराधा-माधव के युगल-विलास के लिए कुञ्जरचना करके समीप ही कहीं भी बैठ रहती हैं, उसी मिलन रस से अनुरञ्जित मन-प्राण लिये। यह है समर्थानुगा रति। यह रति समञ्जसा से भी उच्चकोटि की है।

अन्त में जिस चटुल मधुमक्षिका की बात कही गई उसकी रति कैसी है यह भी क्या खोलकर कहना होगा ?

———

राधारानी को अपने गृहकार्य का खोल उतार कर, यमुनाजल में केलिपरायण अपने श्याम बँधुआ के सङ्ग की लालसा में जल में कूद पड़ते हुए देखा है, तुमने। अब देखो कि वे वहाँ अकेली नहीं हैं, उनके साथ तीन सहचरियाँ (सखियाँ) भी यमुना में जल भरने गई थीं। उनमें सभी ने देखी—यमुना के जल-हिल्लोल में केलिकुतुकी श्यामसुन्दर की प्रतिच्छवि। उसे देखकर श्रीराधा ने कहा, सखि ! ये

मेरे माधव यमुनाजल में क्रीड़ा कर रहे हैं। इसे सुनकर ललिता ने कहा—नहीं सखि ! तुम्हारे श्याम यमुनासलिल में अपने अङ्ग डुबोकर जलक्रीड़ा नहीं कर रहे हैं, उनकी वनमाला, पीताम्बर, चरण-नूपुर एवं दोनों हाथों में मोहनी मुरली यह सभी कुछ तो दिखाई दे रहा है, इसका तो अर्थ है कि वे यमुनाजल में उतरे ही नहीं हैं। यमुना की तरङ्ग-भङ्गिमा में ही अपने श्याम अङ्गों को डुबाकर श्रीअङ्ग सुख की सुधा की लालसा में कैसे लेटे हुए हैं यही देखो। इनकी बात सुनकर विशाखा कहने लगी—तुम दोनों ही विमुग्धा की तरह यह क्या कह रही हो ? यह देखो यमुना के तट पर जो कदम्बवृक्ष है उसी की शाखा में कैसी अपरूप भङ्गिमा से बैठे हुए हैं मुरली हाथ में लिए हमारे गोपी-चित्तचोर श्यामसुन्दर ! तुम दोनों उसकी प्रतिछवि देखकर ही इतनी सम्मोहित हो गईं ! मधुमञ्जरी नाम की और एक सखी इनकी ये सब बातें सुनकर कहने लगी—नन्दगोप का यह श्याम-सलोना लाड़ला कितने-कितने साजों में हमें भरमाया करता है, भरमा सकता है यह क्या भूल गईं ? यही तो घने तमाल-कुञ्ज में उसका लुका-छिपी का खेल है ! और गायों के गोष्ठ में, गिरि-गोवर्धन पर कितने सारे गोधन तथा ग्वाल-बालों के साथ वह प्रमोद-विचरण किया करता है ! ये ही सब तो उसके खेल हैं !

वृषभानुदुलारी एवं उनकी तीन सखियों को तीन प्रकार की दृष्टि है। हे कृष्णरसिक ! तुम भली प्रकार पहचान लो। पहली दो दृष्टियों में प्रतिछवि में प्रतिछवि-बोध (यह असली नहीं छायामात्र है ऐसा ज्ञान) ही नहीं है। तब भी दोनों में अन्तर यह है कि, श्रीराधा की दृष्टि में बाहर की अपेक्षा भीतर की ओर गाढ़ता अधिक है। वे कृष्ण को केवल बाहर ही भासित होता हुए नहीं देख रही हैं, भीतर-बाहर सभी जगह एक समान उनका विलास। और ललिता की दृष्टि में ! मानो उन्होंने अपने माधुरी प्रकाश में ही इन्हें भुला रखा है, नेपथ्य का समाचार ही

उन्हें नहीं है। विशाखा की दृष्टि में बिम्ब और प्रतिबिम्ब इन दो का भेद स्फुट हो उठा है ऐसा देखते हैं। इसीलिये वे यमुना के जल से अपने नयन घुमाकर ऊपर कदम्ब वृक्ष की शाखा की ओर देख रही हैं। इस दृष्टि में भगवान् की ह्लादिनी व संवित् इन दो स्वरूप शक्तियों के बीच जो अभिन्न सन्धिनी दृष्टि है वह नहीं मिली है।

अन्त में मधुमञ्जरी को जो दृष्टि है वह श्यामसुन्दर को गोपी-चित्तचोर रूप में गुप्त तथा व्यक्त सभी लीलाओं में खोज रही है, पा रही है।

तृणावर्त्तः

भूमौ यानि रजांसि वातजवनात्तेषां यथावर्त्तनम्
ऊर्ध्वंक्रान्तिमदप्सु वा क्वचिदधः क्रान्तं यथा घूर्णनम्।
चित्ते सञ्चितवासनोत्थितरजः प्रारब्धसंवेगतो
घूर्णिश्चोर्ध्वमधस्तथा जनयति व्यामोहरूपां द्विधा ॥१॥

मूढं घोरमिति द्विधा विकलनं चित्ते रजः क्षोभिते
मौढ्यमेकमघोविलावहनकृद् दुश्छेद्यकटाकृति।
जीवे मज्जति तत्र तस्य करुणोद्धृत्यै करालम्बनं
यस्याङ्घ्रिद्वयमेकपोतशरणं पाराय दुर्गार्णवे ॥२॥

घोरा घूर्णिरतीवचण्डजवना ध्वंसाय याऽऽवर्त्तते
यस्या ऊर्ध्वगविक्रमाद् गुरुशिलाभारोऽपि तुच्छं तृणम्।
वात्या दम्भसुरारिणा मनसि चेत् तदवत् करालोत्थिता
गोपालं स्मर योऽवति व्रजकुलं त्रासात् तृणावर्त्तजात् ॥३॥

मूढावर्त्तभये ह्यनन्तशयनो जागर्त्तु नारायणो
घोरावर्त्तभयेऽवतु व्रजगिरेरोढा स विश्वम्भरः ।
रामो राजसतामसेऽवतु भये लङ्केशकुम्भोद्भव
(रामो तामसकुम्भकर्णकवलाल् लङ्केश्वराद्राजसाद्)
ऊर्ध्वाधः परितो वराहनृहरी रक्षन्तु चोरुक्रमः ।।४।।

(१)

निदाघ (ग्रीष्मऋतु) का दिन है। देखता हूं धूल व छोटे सूखे पत्तों को लट्टू की तरह घुमाता हुआ, कभी मानो मृदुल निःश्वास से थोड़ा ऊपर उठाता हुआ कौतुकी उष्णपवन खेल रहा है।

कभी दूर क्षितिज (दिगन्त) के काले मेघों के रथ पर चढ़कर (घनी काली आँधी के रूप में) वही भयंकर सज्जा में चला आता है—भारी शिलाओं को भी तुच्छ तिनके सा मानता हुआ, प्रलय ताण्डव नृत्य सा करना चाहता हुआ। क्या नगर क्या सागर सभी घोर-घनेरे तूफान (आँधी) के महात्रास की चपेट में आ जाते हैं।

कल्लोलिनी (नदी) के सीमन्त पर, मन्थर स्रोतों में, छोटे-छोटे चञ्चल भँवरों के रूप में नन्हें शिशुओं के समान नाचता-उछलता-छलकता रहता है नृत्य-छन्द में क्षरित उल्लास। और भादों (भाद्रपद) में भरी उन्मादिनी पद्मा (बड़ी नदी) के वक्ष पर न जाने किस गोपन आवेग के द्वन्द्व से, बड़े-बड़े भँवरों में कराल भीषण सन्त्रास जागता है, कालनागिनी के समान अपने भुज-पाश में निर्दयता से खींचकर निरुपाय तरणी को अपना ग्रास बना डालता है।

अवचेतना में पड़ी वासना को रजोराशि ऊपर उठ आती है और चिन्ता-दुश्चिन्ता, व्यथा-वेदना, आशा-आकांक्षा आदि के रूप में कितने

ही चक्कर खिलाती है, रुकना न जानने वाले झूले में झुलाती है, भँवरों में फँसाती है। कभी प्रारब्ध के प्रचण्ड वेग में सारे अन्तर् (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) को रुद्रताल में मथकर झिझोर कर, प्रबल आँधी से मानो पागल बना देती है वही वासनाराशि, तब मरण-झञ्झा की सी स्थिति लाकर जीवन-नैया का बहना, तैरना, इच्छित दिशा में जाना वह असम्भव कर देती है। ऊपर घूर्णिवायु (घूम-घूमकर बहता पागल प्रचण्ड पवन) और नीचे घूर्णिपाक (भयावने भँवर)—इन दो-दो व्यामोहों के आकार में स्फुटित वासनाजाल विवश कर देता है बेचारे, निरीह जीवन को ध्वंस की ओर दौड़ने के लिए।

(२)

वासना की धूलि में चित्त का दो प्रकार का भारी परिणाम होता है—एक 'मूढ़' निबिड़ तामस रूप में, दूसरा 'घोर' भयानक राजस रूप में। मोह के आवेश में मानो भरी पद्मा (नदी) के वक्ष में स्थित क्षुधित उन्मत्त घूर्णिपाक (भँवर) में मेरी सम्पूर्ण सत्ता निरुपाय होकर खिची चली जाती है; सामर्थ्य नहीं है मुझ में उन भँवर-बेड़ियों (कठिन शृंखलाओं) को काट पाने के लिए। दौर्मनस्य (मन की दुःस्थिति, अस्वास्थ्य) मैनाकगिरि के समान भारी है, वह,—विषादयोग (गीता प्रथम अ० उत्तरार्ध) में पार्थ की क्लीवता के समान, जीवन में जितना भी कुछ स्वस्थ, स्वच्छन्द, सुन्दर, विशाल व शुभ है—उस सबको पङ्गु, कुण्ठित, मर्दित बना डालता है।

(३)

तृण के समान जीव ममता के आवर्त (घेरे) में आकर मोह-गर्त में गिरा हुआ है, अन्धतमिस्रा में डूब चुका है, डूब रहा है, छूटने का, निकलने का कोई उपाय नहीं। उसे उबारने के लिए जिनकी करुणा एकमात्र अकम्पित करावलम्ब (सुदृढ़ बाँह का सहारा) है उनको ही

निश्चित सहाय समझो। जिनके चरणयुगल इस दुस्तर पारावार को तैरने के लिए एकमात्र पोत हैं उन्हीं परमकृपालु की शरण लो। आँधी-तूफान से बढ़े संकटों के समय उन्हीं की प्रेमवायु भरोसे के पाल में भरती हो जाती है संकट समाप्त न होने तक।

जब अन्तस्तल की प्रचण्ड, कराल, घुमड़ी आँधी (घूर्णिवायु) पागल हो उठती है, धीरज की जड़ उस झञ्झा के वेग से उखड़ जाती है, तब विकट-विक्रमशाली दम्भासुर तुम्हें ऊपर उठाकर कंस के समान किसी शिला-पृष्ठ पर पटक देने के लिये ऊपर ही ऊपर घुमाता है। उस चरमसंकट में, आर्त्तिभरे प्राणों से स्मरण करो यशोदा मैया की गोद में बैठे नन्हें व्रजेन्द्रनन्दन को, जिन्होंने घोर तृणावर्त तथा व्योमासुर के त्रास से व्रजकुल को तत्काल मुक्त करके अभय, निश्चिन्त किया था।

(४)

मूढ़-आवर्त्त में ध्वंस अधोमुख होता है, घोरावर्त्त में वह (ध्वंस) ऊर्ध्वमुख होता है। एक (पहले) में क्लैव्य-भरा मृत्यु-अवसाद है, दूसरे में मृत्यु का दम्भ-भरा आस्फालन (कूद) है।

मूढावर्त्त में डूबते समय नारायण का स्मरण करो, जो समाधि-निद्रा में अनन्त-शय्या पर सोये हुए हैं, समस्त सृष्टि का शक्ति-बीज जिनके नाभिपद्म में अग्नि-वीर्य का उद्‌बोधन पाता है।

घोर-आवर्त्त में स्मरण करो गोवर्धनधारी का। वे ही विश्वम्भर गोपाल इन्द्र का दर्प चूर्ण करने वाले हैं, गोकुल-व्रजधाम सभी कुछ को ग्रास बनाने को उद्यत प्लावन को रोक देने वाले हैं।

और, क्यों भूल जाते हो 'राम' नाम। जिन राम ने, सत्त्वप्रधान विभीषण को सखा बनाया; घोरदर्पी राजस रावण तथा मूढ़ तामस कराल कुम्भकर्ण का अपनी महिमा से निषूदन (नाश) किया।

और भी जान लो—सभी अधोभयों में प्राणरक्षक हैं यज्ञवराह भगवान् । सभी ऊर्ध्वंभयों में उरुक्रम त्रिविक्रम रक्षक हैं, जिन्होंने बलि को छला था। और चारों ओर के भय में, सभी दिशाओं के सङ्कट को दूर करते हैं सुभद्र, अथ च भीषण नृसिंह।

———

शुचिसौरभे ! रुचिगौरवे ! शृण शेफालिके !
  वृन्ते तव पीतभाः पोतवाससोऽनुरञ्जनम् ।
लघुगुञ्जितं मधुवाञ्छितं न हि ते रोचते
  चाङ्गे तव शुभ्रधाम दन्तभासोऽनुबिम्बनम् ।। १ ।।
न सहसे निजभाव-तरुषु तव तोडनम्
  प्रवृणुषे भुवि भक्त-पदरजसि लुण्ठनम् ।। २ ।।

हे शेफालिके ! (पारिजात के पुष्प) देखता हूं तुम शुचि पुनीत सौरभ तथा रुचिगौरव (कमनीयता) से युक्त हो। सुनो ! तुम्हें चुपचाप (एकान्त में) एक बात कहता हूं—तुम्हारे वृन्त (डण्डी) में जो केसरिया आभा है वह क्या है जानती हो ! वह है पीताम्बरधारी के उसी पीत-कौशेय का अनुरञ्जन; अर्थात् उस पीत-वसन के अनुराग से ही तुम्हारा वृ त इतना सुन्दर पीले रंग में रँग गया है। और भी सुनो, तुम तो चपल भृङ्ग का गुञ्जन एवं उसके द्वारा की गई मधुकण की याचना या कामना को पसन्द नहीं करती हो, अर्थात् उन दोनों में ही तुम्हारी रुचि नहीं है, इसीलिए तुम्हारे शुचि शुभ्र अङ्ग की जो शुभ्र कान्ति है वह उन मदन-मोहन की मुक्ता-धवल दन्तपंक्ति को छटा से अनुबिम्बित है।

और भी सुनो—तुम नहीं चाहती हो कि तुम्हारे अपने भावतरु से कोई तुम्हें तोड़ ले। इसीलिए तुम स्वयं ही उस भूतल पर लोट जाती हो जहाँ भक्त-रसिकजनों की पग-धूलि पड़ी है।

———

निरञ्जनं व्योम किमु नेत्राञ्जनं तव,
यतोऽम्बरे नीलपटचित्राङ्कनं लसत्।
स्वयंप्रकाशे स्वलसिते शुद्धवस्तुनि,
तदीयनेत्रोज्ज्वलरुचेर्दीपमालिका ॥ १ ॥
रसोऽपि भूमाऽविचलमौनं समाहित-
स्तवस्मितास्ये किमु पीयूषलालसः।
मुदा वहन्ती कलनिनादा यथा सरित्,
सरित्पतेरालिङ्गनलुभा धावमाना ॥ २ ॥
स्वरः कथं ते मुरलिकायां सुरायणं,
कथं च रूपं विलसिताशेषशोभनम्।
वयं वदामः स्वलसनानन्दनन्दनं,
तवैव सच्चित्सुखघनस्य स्वतायनम् ॥ ३ ॥

श्रुति एवं आत्मप्रत्यय में प्रसिद्ध जो निरञ्जन व्योम है, हे कृष्ण वह निरञ्जन ही क्या तुम्हारे इन नयनों का अञ्जन है; जिस अञ्जन द्वारा गगनरूपी नील पट पर ऐसा विचित्र विलसित चित्रांकन देख रहा हूं। पुनः, श्रुति एवं स्वानुभव (अपने अनुभव) से प्रसिद्ध जो स्वयंप्रकाश स्वलसित एवं शुद्ध वस्तु है, वह क्या तुम्हारे इन नयनों की उज्ज्वल शुभ्र कान्ति से ही अपरूप वर्णनातीत दीपमालिका बनी हुई है?

पुनः जो रस भूमा (निरतिशय) है, एवं इसी कारण मौन समाहित है, वह रस भी क्या तुम्हारे इस सदा स्मितशाली मुखशशि के पीयूष की लालसा में, अखिल (सब कुछ में. सर्वत्र) बहती हुई, आनन्द से कल-कल निनाद करती हुई सरिता बनकर 'पतीनां पतिः' नदीनाथ के आलिङ्गन के लोभ से दौड़ पड़ा है ?

हे कृष्ण ! बताओगे क्या ! कि तुम्हारी मुरली के स्वर ने क्यों स्वयं को ऐसे विश्व-विमोहन सुखायन (सुख-मय सरणी) में लीलायित किया है ? और तुम्हारे रूप ने भी क्यों स्वयं को ऐसे अशेष विलसित शोभा-संभार में विचित्रित किया है ? इन सब के उत्तर में तुम स्वयं क्या कहोगे वह तो हम नहीं जानते किन्तु सुनो हम यह कहते हैं— हे सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण ! तुमने अपने स्वलसित आनन्द को और भी नन्दित करने के विचार से ही ऐसा अपरूप विचित्र वितायन (रूप-विस्तार, सज्जा-धारण) किया है ।

———

वंशी वंशीवदनाधरसुधातायनी विश्वह्लादिनी
सा किं कालीरुधिरलिप्तदतां गूढहास्ये गोपायिता (सङ्गोपिता)
चूड़ावर्हीन्दुचारुरुचिर्मालतीमालालिङ्गिता
सा किं मुञ्चच्चिकुरदामरुचा व्योमकेशस्याप्यायनी ।। १ ।।

विश्वविलसने रसश्चित्रविमोहनं
विश्वनिरसने भवेद् गम्भीरगूहनम् ।
विश्वविरचने चिरं छन्दः सुश्रृङ्खलं
विश्वविलयने पुनर्व्योम्नि व्यवाधितम् ।। २ ।।

वंशीवदन श्रीकृष्ण की अधर-सुधा का त्रितायन (विस्तार) करने वाली जो वंशी है, वह वंशी विश्वह्लादिनी (सभी कुछ को आह्लादमय बना देने वाली) है। इस वंशी की ह्लादिनी शक्ति ने क्या काली की रुधिरलिप्त दन्तावली के गूढ़हास्य में स्वयं को छिपा लिया है ? श्रीकृष्ण के चूड़ा (मुकुट) में मयूरपुच्छ की जो सौ-सौ चन्द्रमा जैसी चारु (सुन्दर) कान्ति है, एवं मालतीमाला के आलिङ्गन की जो शोभा है, वह शोभा क्या मुक्तकेशी के मुक्त (खुले, बिखरे) चिकुरदाम (केशावली) में स्वयं को मिलाकर, छिपाकर, जो व्योमकेश (शङ्कर) हैं उनको तृप्त, प्रसन्न करनेवाली बनी हुई है ?

यह जो विश्व है, इसके रूपादि के विलसन में, रस ने स्वयं को विचित्र विमोहक रूप से व्यक्त किया है। फिर इस विश्व के ही निरसन में रस ने मानो अपने को किसी अगाध गम्भीर में छिपा लिया है। पुनः, इस विश्व-शिल्प के विरचन में छन्द को सदा ही खूब सुश्रृंखल देखते हैं, अर्थात् छन्द स्वरूपतः कितना ही सुषम हो, तब भी उसने अनन्त बन्धन स्वीकार किये हैं। किन्तु इस विश्व का जब विलोम विलय होता है, तब छन्द सभी विशेषों, बन्धनों से छूटकर असीम व्योम के समान ही मानो स्वयं को आधार की समता में मिला देता है।

अब प्रथम श्लोक में द्वितीय श्लोक की भावयोजना करके समझ लो कृष्णकालीरहस्य को। कालीतत्व में जो हास्य है वह हास्य बाह्य-विचित्र-लास्यमय नहीं है, जैसा कि श्रीकृष्ण का है। वह 'गूढ़' एवं सङ्गोपित (छिपाया हुआ) है, जैसा कि श्री श्रीचण्डी में है—'गम्भीरान्तः स्मिता जगौ'। काली में प्रचण्ड अट्टहास भी है जो असुरसंहार के समय प्रकट है।

विलोलकालिन्दीतटविपिनविहारी कृष्णः
समाधिनैःस्पन्दाश्रयवपुषि नटन्ती काली।

एको गले मालां ललितकुसुमवासोत्फुल्लां
प्रचण्डचण्डादेर्गलितरुधिराल्नां चान्या ॥

व्रजकिशोर के जलकेलि-कौतुक से सदा विलोला (चञ्चल हुई) जो कालिन्दी हैं, उसके तट पर स्थित विपिन में विहार करते हैं (द्विभुज मुरलीधर) श्रीकृष्ण। और, महासमाधि-शयन में जो नैःस्पन्द्य है, एवं उस नैःस्पन्द्य के आश्रय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप जो शव-शिव हैं, उनके वक्ष पर नृत्य में रत हैं काली। एक (कृष्ण) अपने गले में पहने हैं वृन्दावन के सुललित सुरभि-युक्त कुसुमों को सुरुचि गन्ध से उत्फुल्ल सुन्दर माला (वनमाला); और काली अपने गले में धारण किये हुए हैं चण्ड-प्रचण्ड-मुण्ड आदि के रुधिर से लिपटी भयानक मुण्डमाला। इसीलिए काली चतुर्भुजा —खड्ग-मुण्ड-वर-अभय-करा हैं ॥१॥

एका श्यामा भुवनमखिलं स्वात्मसंगृह्यमाणं
सर्वं ब्रह्मेत्यनुभवभवं ब्रह्मकैवल्यदात्री।
अन्यः श्यामो रसिकहृदयं वेणुपीयूषलोलं
कालिन्दीरोधसि लसयति ब्रह्म गोपालवेशम् ॥२॥

श्याम व श्यामा इन दोनों में से जो श्यामा हैं, वे क्या करती हैं ? विलोम क्रम में अथवा संवरणी-छन्द में इस अखिल-भुवन को अपने आप में वे समेट लेती हैं, संगृहीत कर लेती हैं। वह साक्षात् अनुभव में आने पर क्या होता है ? यह सभी कुछ ब्रह्म है —इस प्रकार का अवबोध या निश्चयबोध होता है। इसलिए श्यामा ब्रह्मकैवल्यदात्री हैं।

उधर, जो श्याम हैं। उन्होंने क्या किया है ? सभी रस-लिप्सु हृदयों को अपनी वंशी-ध्वनि रूपी पीयूष का लोभी बनाकर, कालिन्दी-पुलिन पर उस हृदय को रास-रस में उल्लसित-विलसित किया। ये हैं गोपाल-वेशधारी ब्रह्म।

इस श्लोक का मर्मार्थ यह है कि श्यामा व श्याम, काली व कृष्ण स्वरूपतः अभिन्न ब्रह्मवस्तु हैं। सुतरां उनमें भेद नहीं है। विलोम या विलयदृष्टि से जो अखण्डैकरस ब्रह्मकैवल्यदायिनी काली हैं, वे ही पुनः अनुलोम एवं विचित्र-विलसित रसास्वाद की दृष्टि से गोपाल कृष्ण हैं।।२।।

———

चन्द्रे कलङ्कः कवेर्नु दूषणं, किंवा मनोज्ञा मृगीव भूषणम्।
कामे कलङ्कः सुरेशदूषणं, भावे मृगाङ्को भवेशभूषणम्।।
(भावे भवेशे मृगाङ्कभूषणम्)
(शम्भोर्ललाटे स्मरेषुभञ्जनम्) ।।१।।

नेत्रे कलङ्कोऽञ्जनं हि भामतां
सूरेरपश्यन् निरञ्जनं स यत् (सदा)।
देवादिदेवे हि भस्म भूषणं
भस्मासुरादौ तदेव दूषणम्।।
(भस्मानुलिप्ते शुनीह दूषणम्) ।।२।।

भूषा कलङ्कोऽपि गोपयोषितां
दुर्वासरोषः शकुन्तलादिषु।
रासेष्ठुलीला च नन्दनन्दने
कोपोऽपि कंसे सदैव भूषणम् ।।३।।

चन्द्रमा में जो कलङ्कलेखा देखी जाती है, कवियों की कल्पना में कभी तो वह कलङ्क दोषरूप से गिना जाता है, और कभी भूषणरूप से भी। जैसे किसी सुन्दर मुख के साथ चन्द्र की तुलना देते समय कवि 'निष्कलङ्क'—यह विशेषण दिया करते हैं। विद्यापति श्रीराधा का रूप वर्णन करते समय कहते हैं—

"कनकलता अवलम्बने उयल हरिणीहीन हिमधामा"

अर्थात् श्रीकिशोरी जी के अङ्ग मानों एक सुवर्णलता हैं, और उसका अवलम्बन लेते हुए उदित हुआ है उनका मुखरूपी राकाशशि। किन्तु इन्दु में जो मृगी जैसी कलङ्कलेखा दिखाई देती है, श्रीराधा के वदनेन्दु में उस कलंक का लेश भी नहीं है। अच्छा, विद्यापति ने इस चन्द्रमा में हरिणी की जो छबि दिखाई वह क्या केवल कलंकरूपा ही है? नहीं, ऐसा नहीं है। कविकल्पना ने उस हरिणी को लेकर कितने ही मनोज्ञ विभूषणों की रचना की है—चन्द्रमा में, चन्द्रिका में।

पौराणिक उपाख्यान में सुनते हैं कि एक वार सुरेश्वर इन्द्र गौतम पत्नी अहल्या के प्रति कामासक्त हुए थे। तब उसी के फलस्वरूप इन्द्र के शरीर में कितने ही कलङ्क फूट उठे थे। इसे भाव एवं ध्यान की दृष्टि से देखें तो भवेश (महादेव) के ललाट पर वही मृगाङ्क रूप कलङ्क सुन्दर भूषण ही बना हुआ है। इसीलिए तो शिवशम्भु चन्द्रशेखर नाम धारण किये हुए हैं। इसीलिए हमलोग आर्त्त होकर पुकारते हैं:

चन्द्रशेखर! चन्द्रशेखर! चन्द्रशेखर पाहि माम्!

,, ,, ,, रक्ष माम्!

विशेषतः, दुर्निवार मन्मथ के स्मर-गरल के खण्डन एवं पञ्चशरों के भञ्जन में शिव-मस्तक पर शोभित यह सोमार्द्ध-भाति (प्रभा) अमोघ है।

वेद-मन्त्र में सुनते हैं कि जो सूरि हैं वे विष्णु के उस परम पद का व्योम के समान सर्वव्यापिनी दृष्टि से निरन्तर दर्शन किया करते हैं। अच्छा, सूरिगणों ने इस प्रकार की निरञ्जनी दृष्टि कैसे पाई है? चन्द्र, सूर्य, तारा एवं अग्नि आदि की जो भाति (ज्योतिः) हैं, उन सब में स्थित जो कलङ्क या अपकर्ष है, वही उनके नेत्रों में ज्ञानाञ्जन बना है। उसी से अञ्जित नेत्र से उन्होंने देखा था—'न तत्र सूर्यो भाति न

शशाङ्को न पावकः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।' इत्यादि । और भी देखो देवादिदेव महादेव के अङ्ग में जो भस्म है वह तो गुह्यातिगुह्य भस्मविभूषण ही है (जैसा कि भस्मोपनिषत् में सुनते हैं) किन्तु पुराण में कथित जो भस्मासुर या भस्मलोचन है (जिसके दृष्टिपात भर से सब भस्म हो जाता है) अर्थात् जिनके दृष्टिपात से विश्वनाथ की अपूर्व सृष्टि राख हो जाती है उसका वह भस्म महादूषण ही है। साधारण दृष्टान्त से देखें तो जो कुत्ता कीचड़-मिट्टी में पड़ा है, उसके शरीर में लिपटी राख भी तो उसका भूषण नहीं है ।

वृन्दावन में गोपवधुओं का जो कृष्णकलङ्क है वह तो रसिक सुजनों की दृष्टि में अनवद्य भूषण ही है। और क्रोधोस्वभाव अथ च ब्रह्मज्ञ दुर्वासा का जो शकुन्तला आदि के प्रति कोप है, वह भी भावरसिक एवं काव्यरसिक की दृष्टि में दूषण नहीं, भूषण ही हैं। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की रासलीला एवं कंस आदि शत्रुओं के प्रति कोप (ऐसे उनके काम व क्रोध) दोनों ही सभी समय एकान्त मनोहर भूषण ही हैं ।

किं फागकुङ्कुमद्रवरक्तरागे
प्रेष्ठालिभिः सुकोमलरञ्जनं ते ।
किं रक्तवीजनिःसृतरक्तराशौ,
रक्ताम्बुदप्रभा तव कृष्ण ! कालि ! ।।१।।
कोमलनवतृणकुसुमविचित्रिते
विहरसि श्यामसुन्दर ! यमुनातटे ।

मौक्तिकरजतधवलधववक्षसि
कलयसि श्यामदामिनि ! सकलां कलाम् ।।२।।

अहनि गुञ्जितं मधुनि वाञ्छितं भ्रमर ! तव मृग्यमरविन्दम् ।
निशि सुगोपितं, दृशि निमीलितं, रहसि तव मर्ममधुसुप्तम् ।।३।।

स्वापमितो भ्रमरोऽपि मधूत्सवे
गुञ्जन् मुदा मुरलीमधुनीच्छुकः ।
रूपरसादिविचित्ररसोत्सुको
मातुरुरोऽमृतमग्नसुशायितः ।।४।।

हे कृष्ण ! तुम्हारी प्रियतमा गोपवधुओं द्वारा डाले गये फाग कुङ्कुम के रँग से ही क्या तुम्हारे पीत वस्त्रों पर सुकोमल रञ्जन हो गया है ?

एवं हे कालि ! सैंकड़ों हजारों रक्तबीजों (रक्तवीज नामक असुर के प्रत्येक रक्त-बिन्दु से उसी के समान ही प्रताप वाले असुरों का उद्भव हो जाता था) से निःसृत जो रक्तराशि है, उसी के अनुरञ्जन से क्या तुम रक्तमेघ जैसी भीषण कान्ति वाली हो गई हो ? १ ।

हे श्यामसुन्दर ! तुम ता कोमल, नये उगे हुए तृणाङ्कुरों तथा विविध पुष्पों से विचित्रित यमुनातट पर विहार कर रहे हो । और हे श्यामा ! सौदामिनी ! तुम मुक्ता व रजत के समान धवल अपने पति के वक्ष पर नृत्य-रत होकर काम आदि समस्त कलाओं का कलन कर रही हो । २ ।

हे भ्रमर ! मधु की आकांक्षा में दिवस में तुम्हारा जो गुञ्जन है, वह गुञ्जन क्या खोज रहा है ? कहो तो ! वह खोजता है प्रफुल्ल अरविन्द । और रात्रि में जब अन्धकार उतर आता है तथा वे अरविन्द देखने में तो निमीलित एवं सुगोपित हो जाते हैं, किन्तु तुम तब भी उस कमल-

क्रोड मे बन्दी होकर निराले एकान्त उसके मर्म-मधुशयन में सो नहीं जाते हो क्या ?

इस श्लोक का भावार्थ कुछ खोल कर कहते हैं—मधुलिप्सु भ्रमर जागते समय मुरली-मञ्जीर (वंशी व नूपुर) के मधु-उत्सव में कितने आनन्द से गुञ्जन कर रहा था। इस समय देखता हूँ कि वह गाढ़ निद्रा में लुढ़का पड़ा है। किन्तु कहाँ पर ? उसी मधुरस का जो निविड़ केन्द्र है वहीं पर तो! उसी प्रकार ओ रसिक साधक तुम भी बाहर जप-रस, ध्यान-रस आदि विचित्र विविध रसों के प्रति-उत्सुक होकर इतस्ततः घूम रहे हो; आओ अब अपनी माँ के वक्ष में जो स्तन्यसुधा है उसी में मग्न होकर सुख में सोवो। विचित्रता एवं उसी से प्रयुक्त इतस्ततः प्रयास छोड़कर (जिस मूल प्रयोजन से वह आयास कर रहे थे, उसी के उपलब्धि स्थल) एकरस रस मात्र में सुखमग्न होवो, सम्यक् शान्त होवो। नन्हे शिशु की भाँति माँ (जगन्माता) के वक्ष पर ही आयास-प्रयास रहित सहज अवस्था में आ जाओ।

करोति कः कदम्बकालीयकेलिः
स्वमाधुरीविमुग्धगोगोपगोपीः।
निरस्य का रवीन्दुभासं स्वभासा (स्वधाम्ना)
स्वरूपतो निमग्नतूष्णीं विधत्ते॥
विधूय का वहिः प्रकाशेन्द्रजालं
महानिशा परा स्वरूपे विभाति॥५॥
(स्वरूपे सुषुप्तिः॥)

सर्वमाधुर्यपरिसीमा कृष्णे रूपलीला
कंसकालियरिपुरोषश्चित्रे चारुलेखा ।
खड्गमुण्डास्थिकृतभूषा काली कालरात्रि-
र्नीलकान्तद्युतिपदा सा नित्या पौर्णमासी ।।६।।

यमुना तट पर कदम्ब वृक्ष के मूल में एवं कालिय नाग के सिर पर नृत्यरत हो कर कौन स्थित है, कहो तो ? व्रज के गो-गोप-गोपी जनों को अपनी माधुरी से किसने विमोहित किया है ? और किस ने दिन के रवि तथा रात्रि के चन्द्रमा की छटाओं को अपनी छटा में निरस्त कर के स्वरूप में शयन का जो स्व-निमग्न मौन है उस मौन को समाहित किया है ? अथवा कहो तो कौन वाह्येन्द्रियों के प्रकाश में जो विश्व रूप इन्द्रजाल प्रशस्त है उस का विधूनन (ध्वंस) कर के, परमा महानिशा रूप से निगूढ़ दीपिता (प्रकाशिता), स्वरूप से चिदानन्द रूपा सुषुप्ति बनी हैं ?

श्रीकृष्ण की जो अपरूप रूपलीला है वह तो अशेष माधुर्य की परिसीमा है, किन्तु जिस लीला में कंस-कालिय आदि के रिपु में रोष दिखाई देता है, वह क्या है ? माधुर्य रसिक की दृष्टि से वह चित्र में चारुता बढ़ाने वाले विचित्र अङ्कन हैं ।

इस ओर काली कालरात्रि रूप से खड्ग, मुण्ड, अस्थि आदि के भूषण धारण किये हुए दैत्यदलनी बनी हैं, किन्तु उन के चरणों की जो नीलकान्तमणि की प्रभा जैसी छटा (शोभा, कांति) है, उस में लुण्ठित (लोटा हुआ) है जिस का मन-प्राण उस के लिये वे क्या बनी हैं ? उस के लिये वे होती हैं नित्य उदित सम्पूर्ण कलाओं वाली पूर्णिमा, अर्थात् तब उस में भुक्ति, मुक्ति, भावभक्ति सभी कुछ पूर्ण विकसित है ।

नीलोत्पलदाम कुञ्जायते किं, मधुमञ्जरीश्री राकायते किम् ।
पीयूषलुभा चकौरायते किं, च्युतविन्दुलोला भृङ्गायते किम् ।।१।।

नीलाञ्जनचयश्यामाम्बुदे किं, रञ्जनं चातके चकोरे न किम् ।
मेघोऽपि वदनेन्दुद्योतनाय, भृङ्गसन्तोषणं पदाब्जे द्वयोः ।।२।।

नीचे उत्पलों की माला ने लता के समान हिल-डुल कर (लोलायमान होकर) मेरे श्याम व श्यामा की तनुवल्लरी का निर्माण किया है क्या ? और उस नीलोत्पल-वर्णा वल्लरी में मुख रूप शशि ने मधुमञ्जरी के समान विकसित हो कर अपनी श्री से परिपूर्ण राका-कौमुदी (पूर्णिमा रात्रि की चाँदनी) की रचना की है क्या ? और उस राका-कौमुदी से क्षरित (झरी) जो सुधा है उसी सुधा के लोभ से क्या मेरा हृदय चकोर बना है ? एवं उसी सुधा के जो बिन्दु मधु बन कर जिन चरणों मे गिरे हैं उन्हीं के लोभ से मेरे प्राण क्या भृङ्ग बन गये हैं ?

मेरे श्यामसुन्दर की ओर तो यह स्पष्ट ही देखा जा रहा है, किन्तु मेरी श्यामा-सौदामिनी की ओर क्या है ? वहाँ देखता हूँ, मेरी माँ ने नील अञ्जन के ढेर रूप मेघों की माला का रूप धारण किया है । तब क्या माँ मेरी केवल तृष्णा से कातर चातक के लिये जल ही बरसायेंगी ? अरे, केवल इतना ही नहीं । माँ का महामेघ प्रभा से घोर जो रूप है, वह मेघों के अवगुण्ठन में थोड़ा छिपा होने पर भी तो शत-कोटि चन्द्रच्छटा जैसा समुज्ज्वल, देदीप्यमान है ! अतः चातक व चकोर दोनों ही अपने-अपने प्राणों की पिपासा मिटायें । एवं अन्त में इन श्याम व श्यामा दोनों के ही श्रीपाद-पद्म में मेरे हृदय-भ्रमर का संतोषण है, अर्थात् पूर्ण परितोष स्वरूप रसास्वाद है ।

कृपणमुदपानं बाधानवहपरिवेष्टितम्
शुष्यति खरखमणिपीतनिजतोयम् ।
अतिविपुलवारिराशिरटनबहुभाषितम्
वारितृषितहृदि, न किञ्चिदपि हृद्यम् ।।१।।

अपि निकटवासे पङ्कमलिनजललुण्ठितं
सागरवरमिलने न हि वरभाग्यम् ।
वृणुजलदतोयं प्लावितसकलनिजदैन्यं
सिन्धुसुशयितसरितासहितसौख्यम् । (सह सममृग्यम्) ।।२।।

हे कृपण क्षुद्र जलाशय ! देखता हूँ, तुम कितने ही बन्धनों से घिरे हुए हो, और तुम्हारे स्वल्प (थोड़े से) जल को ग्रीष्म का प्रखर रवि पी कर सुखा भी देता है। अब यदि कोई आकर तुम्हारे कान में बार-बार सुनावे विपुल वारिधि का अपनी ही महिमा में रटन, तब कहो उस वाणी को सुन कर तुम्हारे वारि-तृषित प्राण क्या थोड़ी भी शान्ति पाते हैं ? कहाँ ? वैसा तो नहीं होता ! फिर, यदि उस विपुल जलनिधि के निकट ही जा कर तुम वास करो (रहने लगो), और अपने कीचड़ भरे थोड़े से जल में ही पड़े रहो तो कहो—उस से भी क्या सागर के वर मिलन का सौभाग्य तुम्हें मिलेगा ? नहीं, वह तो नहीं मिलेगा यही प्रतीत होता है। 'तो मैं क्या करूँ कहो ?'— (जलाशय कहता है) । (उत्तर)— सागर जब सजल जलद रूप से उत्थित हो कर अपना जल बरसाता है, तब अपना समस्त दैन्य कार्पण्य बहा कर, त्याग कर उस वारिद के वारि-वर्षण को ही क्यों नहीं वरण कर लेते ? यह वरण करने से क्या होगा ? सिन्धु की अभिसारिणी जो सरिता अपने दोनों तटों के बन्धन खो कर असीम सिन्धु-वक्ष में सुशायित होने (आनन्द निद्रा में सोने) के लिये चल देती है, इस सिन्धुगामिनी सरिता

के साथ तुम्हारा सख्य होगा तो उस से उत्पन्न सौख्य (सुख) भी अवश्य होगा। अतएव तुम प्राण-पण से माँगो कि किसी प्रकार गगन के अकुण्ठ उदार वर्षण से तुम्हारी दैन्य-सीमायें टूट जायें, बह जायें, और तुम अपने क्लिष्ट, स्वल्प परिसर का अतिक्रमण कर के सिन्धु-गामिनी सरिता के साथ मैत्री बढ़ा सको।

चिताभस्मविलासिनि शवशिवे मृत्युञ्जये
क्षरद् जीवनशोणितमदिरमत्ता कालिका।
मुदा नृत्यपरो मधुरमुरलीसञ्जीवन-
-सुधासिञ्चनकृद् गलितगरले कालीयके ॥१॥

क्षरं जीवनं यत् तस्याक्षरायणं
चिदानन्दरूपं दातुं महेश्वरी।
मृतेर्मूर्च्छनं यत् तस्यामृतायनं (तच्चेतनायनं)
रसास्वाददोहं दातुं व्रजेश्वरः ॥२॥

'ल' इति कृष्णवीजे या ह्लादिनीधाम लावनी (पूर्णिमा)
'र' इति कालिकायां सा संविदैश्वर्यपूर्णभाः (भामती) ॥३॥

अखण्डाद्वैततत्त्वाय सच्चित्सुखात्मने नमः।
कालीकृष्णाय विश्वस्य नाट्यसूत्रधराय च ॥४॥

महाश्मशान में चिताभस्म पर जिनका विलास है, वे मृत्युञ्जय शवशिव होकर पड़े हुए हैं, और उनके वक्ष पर विश्व के जीवनरूप

शोणित का मदिरा के समान पान करती हुई मत्त होकर माँ कालिका आनन्द में नृत्य कर रही हैं।

वे ही फिर कालिय-ह्रद में कालियनाग के विस्तृत फणों पर उल्लास-नृत्य में रत होकर अपने मधुर मुरली-रस के सिञ्चन से कालिय द्वारा उगले गरल के पान से मूर्च्छित हुए अपने प्रिय गो-गोप-गोपी-जनों को पुनः आनन्दसंवित् दे रहे हैं।

जो काली महेश्वरी हैं वे अनित्य, चपल जीवनरूपी रुधिर का मानो पान करके अपना चिदानन्दरूप जो अक्षरभाव है वह उसे (जीवन को) देती हैं (क्षर को अक्षर बनाती हैं)। और व्रजेश्वर श्रीकृष्ण ने कालिय-ह्रद में क्या लीला प्रकट की? इस संसार के विषय-विषपान से मृत्यु रूप जो प्रगाढ़ मूर्च्छा हुई उस मूर्च्छा का अमृतायन किया (मृत्यु को अमृत बनाया; जिसके फलस्वरूप मूर्च्छा भी बनी—उनका गाढ़-रसास्वाद-घन आनन्द ॥

काम या कृष्ण-बीज में जो 'ल' कार है (लं) उसकी सविशेष व्यञ्जना क्या है जानते हो? भगवान् के स्वरूप ह्लादिनीशक्ति की छटा अथवा लावनी रूपा जो पूर्णिमा है—वही। और माँ कालिका के बीज का जो 'र' कार (रं) है, उसकी क्या व्यञ्जना है? भगवान् अथवा भगवती का जो स्वरूप संवित् शक्ति है, उस शक्ति की जो ऐश्वर्यमयी परिपूर्णता है, वही। एक वाक्य में कहें तो पहली को यदि कहा जाये रोचिष्मती तो दूसरी को कहना होगा ज्योतिष्मती या भामती।

इस प्रकार जो सच्चिदानन्दस्वरूप अखण्डाद्वैत तत्त्व काली-कृष्ण हैं, जो इस विश्वमहानाट्य के एकमात्र नाट्यकार एवं सूत्रधार हैं, हम उनको प्रणाम करते हैं।

समुद्रमन्थनोत्थितकालकूट—
स्वकण्ठभूषणाञ्जननीलकण्ठः ।
भृगोः पदाङ्कलाञ्छनमप्युदारे
हृदि ह्यदीपि कौस्तुभकानुकृष्णे ॥१॥

स्थाने भूषणं चेत् स्वभावदर्शनं
ग्राह्ये दूषणं कुग्रहीतुरीक्षणम् ।
फुल्ले पङ्कजे कृष्णभृङ्गभूषणं
गौराङ्गभाले चाञ्जनानुरञ्जमम्
(कृष्णविन्दुरोचनम्) ॥२॥

समुद्रमन्थन में जो कालकूट हलाहल उठा था उसे शङ्कर ने अपना कण्ठभूषण बना लिया था, उसी विष-भूषण के कारण वे नीलकण्ठ हुए। फिर, कौस्तुभ-मणि की प्रभा से जिनका वक्ष सुशोभित है वे कृष्ण (या विष्णु) जब सुख-मुद्रा में सोये हुए थे तब उनके उदार वक्ष पर भृगु मुनि ने पदाघात किया, किन्तु उनका हृदय इतना उदार है कि उस पदचिह्न को उन्होंने अपने वक्ष में चिर-उज्ज्वल चिन्ह के रूप में धारण कर लिया एवं भृगु को कहने लगे—मेरे वज्राधिक कठोर वक्ष पर पदाघात करने से आपके इन सुकोमल चरणों में व्यथा तो नहीं हुई ? अर्थात् क्षमा एवं प्रेम इन दोनों गुणों के आश्रय उन्होंने भृगु का अपने वक्ष पर पदाघात केवल क्षमा ही नहीं किया, बल्कि उसको कितना आदर देकर कौस्तुभ मणि के समीप स्थान दिया। अतएव देखता हूं कि ठीक भाव से लेने पर अत्यन्त दूषित जो दूषण है वह भी किस प्रकार अतिशोभित भूषण हो जाता है।

यही द्वितीय श्लोक में कहा जा रहा है कि यदि स्वभाव में, स्वरूप में दृष्टि रहती है तो भूषण भी ठीक स्वभाव में, स्वरूप में बना रहता

है। जो विषयवस्तु को ग्रहण करता है उसे यदि ग्रहीता नाम दें तो विषयवस्तु हुआ ग्राह्य। अब ग्रहीता का ईक्षण या दृष्टि सुष्ठु (सुन्दर, सम्यक्) भाव की हो सकती है, विपरीत भाव की भी। उस भाव के अनुसार ही विषयवस्तु भूषण या दूषण रूप में दिखाई पड़ती है। जैसे देखो—प्रफुल्ल पङ्कज में जो काला भ्रमर बैठा है, उसे पङ्कज का भूषण कहोगे कि दूषण कहोगे? और भी, गौराङ्गसुन्दर के हेम-धवल भाल पर एक काजल का तिलक-बिन्दु (शचीमाता द्वारा लगाया हुआ) दिखाई देता है उसको भी भूषण कहोगे कि दूषण?

वरवर्णिनीनां तिलोत्तमानां तिलकृष्णबिन्दुर्विम्बाधराधः।
रसिकेन्द्रचूड़ामणिश्चकोरोऽधरचुम्वनार्थं विरज्यते किम् ॥३॥

अब व्रजधाम के अपूर्व मधुरभाव से आप्लुत नेत्रों से देखो—सभी व्रजवधुएँ वरवर्णिनी हैं तिलोत्तमा जैसी हैं। उनमें किसी के बिम्बाधर के नीचे (बांए) यदि एक काला तिल हो तो, रसिकेन्द्र चूड़ामणि हमारे कृष्णकिशोर-चकोर उस सुधाघन अधर के पान में विरागी होंगे क्या?

व्रज के मधुर भावरूपी अञ्जन से आँजी हुई दृष्टि से उक्त श्लोक की छवि देखने को कहा है। देखो—जीवन्मुक्त परमहंसों के अग्रणी जो श्रीशुकदेव हैं, उन्होंने श्रीमद्भागवत के मधुररस का सारभूत जो दशम स्कन्ध है (जिसमें लज्जा को भी लज्जित करने वाली गोपी-वस्त्र-हरणादि लीलाएँ अति कोमल शब्दों में चित्रित हैं) उसे भाव में प्रत्यक्ष तथा भाषा में प्रकटित करने की प्रेरणा दी—व्यासजी को; अतएव साधारणी नायिका की दृष्टि से न देखना। 'समर्था' (रति) में जो समर्थ है ऐसी स्वयं श्रीमती राधारानी के अतिरिक्त कोई है या नहीं यह तो नहीं जानते! तब भी 'समञ्जसा' को अपने भाग्य में ला सकते हो या नहीं, यही देखो।

आगे के श्लोक में यही समञ्जसा दृष्टि है। पहले श्लोक के 'रसिकेन्द्र चूड़ामणि चकोर' तथा 'कृष्ण' शब्द यहाँ पर भी हैं, ध्यान देना। इन दोनों ही श्लोकाङ्कित छबियों में प्राकृत लौकिक दृष्टि न लाना।

रसिकेन्द्रचूड़ामणिः कृष्णः परमः पुमान् यः
रससान्द्रविम्बाधरः लौल्यं परमोऽनुरागे।
क्रयमूल्यमेकं तदेवान्यम् न, विना तदेकम्
इति सूचनार्थं लसत् कृष्णाञ्जनकृष्णविन्दुः ॥४॥
(चुम्बत्कृष्णोत्सुककृष्णबिन्दुः)

जो एकेश्वर परमपुरुष हैं, वे ही रसिकेन्द्र चूड़ामणि कृष्ण हैं। उन कृष्ण में जो परम अनुरक्तिरूप लौल्य (लोभ, चाह) है, वही है कृष्णरसिका प्रिया का रससान्द्र (स्निग्ध) बिम्बाधर। भागवत कहता है—यह लौल्य ही एकमात्र क्रयमूल्य है, जिसके द्वारा वह परम रतन खरीदा जा सकता है, और कुछ भी देने से वह नहीं खरीदा जाता। यह जो ऐकान्तिक कृष्णरस-विलास के प्रति लौल्य है उसी को (चिह्नरूप से) दिखाने के लिए केवल कृष्णैकरसिका के विम्बाधर के नीचे यह चिर-सुन्दर (श्यामलकिशोर) का भी विमोहन कृष्णतिल बना हुआ है। वह बाएँ क्यों हैं? हमारा वह मोहनिया बन्धु 'बाँकेबिहारी' है न! उसे सब बाँका ही अच्छा लगता है।

———

यशोमतीवक्षःसुधां पिबन् नन्दनन्दनो
व्रजे किशोर : क्रीडति प्रफुल्लास्यपङ्कजः ।
मुदा विषक्षीरस्तनां मृषाच्छद्मपूतनां
गृहाङ्गणे स्तन्याकृष्टासुकां भूरि भावयन् ।।१।।

या काली महिषादिदैत्यदलने कालाग्निदीप्तोज्ज्वला
या भीमा समरे निहन्ति रभसा शुम्भादिदैत्येश्वरान् ।
खड्गासृक्क्षरितानुलिप्तमहसा त्रैलोक्यभीतिप्रदा
सा मुण्डास्थिचयं गले रुचितटे धृत्वा लसद्भूषणा ।।२।।

वृन्दावन में यशोमती की वक्षसुधा का पान करके नन्दनन्दन नन्हें कृष्ण प्रफुल्ल पङ्कज के समान सुन्दर हास्य-भरे मुख से खेल रहे हैं। इसी समय यशोदा के गृहाङ्गण में, स्तनों पर हलाहल लपेटे, झूठे कपट स्नेह से भरी पूतना ने आकर कन्हैया को गोद में उठा लिया और उसके मुँह में अपना स्तन डाल दिया। किन्तु हमारा नन्हा 'कनु' (कृष्ण) तो महायोगेश्वर श्रीहरि है ! उन्होंने पूतना के स्तन्य दुग्ध के साथ-साथ उसके प्राण भी खींच लिये। इससे क्या हुआ ? क्या वह केवल मर ही गई ? नहीं, ऐसा तो नहीं है। उसने पाया एक विपुल भावमय लीलारसपूर्ण दिव्यजीवन ! अरे मर्त्यलोक के प्राणी ! तुम तो भगवद्-विद्वेषी हो ऐसा देखता हूं। किन्तु वे स्वयं यदि अपने अहेतुक प्रेम से तुम्हारी गोद में आकर तुम्हारे प्राण ले लें तब तुम्हारी क्या दशा होगी ? कहो तो ? वह होगा उनके ही लीला-सुधारस से भरपूर मरणहीन महाजीवन ।

श्रीकृष्ण अपने विद्वेषी को किस प्रकार प्रेम से अपना बना लेते हैं, यह देख लिया। अब देखें माँ काली क्या करती हैं। जो काली चण्ड, मुण्ड, रक्तबीज, महिष आदि दैत्यों के दलन के समय साक्षात्

कालाग्नि के समान दीप्ता, उज्ज्वला हैं एवं जो अपने अमेय तेज द्वारा शुम्भादि दैत्य सम्राटों का भी समर में निधन कर देती हैं, वे उन दुर्जेय रिपुओं की क्या गति करती हैं ? उसे नहीं देखा है ? उन (माँ) के समुद्यत खड्ग की जो शोणित से भरी कराल छटा है, वह त्रैलोक्य को भय देनेवाली तो अवश्य है; किन्तु उनके उस खड्ग से छिन्न (कटे) जो मुण्ड व अस्थियों के ढेर हैं, उन्हें वे घृणा से दूर नहीं फेंक देतीं, उन्हें ही बड़े आनन्द से, यत्न से गूँथकर अपने प्रिय आभूषणों के रूप से अपने गले तथा कटि में पहन लेती हैं। इसीलिए हमारी माँ की गोद में एवं वक्ष पर जो उन (माँ) के एकान्त विद्वेषी कुसन्तान हैं, उनका भी स्नेहसुधा से भरा विश्रामस्थल है, ठीक ही तो है ('कुपुत्रो जायेत कुमाता न भवति'—लोक में भी; फिर वे तो विश्वजननी हैं, अपराधों के लिये दण्ड देने पर भी अपनी सन्तान को त्याग नहीं देतीं, अन्ततः अपने ही प्रेम-पयोनिधि, स्नेहपरिलुप्त वक्ष में उन्हें सुला ही लेती हैं, अन्यत्र कहीं भी न मिल सकने वाली शान्ति देती ही हैं।

आवेग व आर्त्ति

स्तोकं तुङ्गगिरीन्द्रसानुविवराद् वारीणि लब्ध्वा सरित्
कृच्छ्राच्छैलसमूहसैकतचयोत्तीर्णेति या मन्थरा।
दूराच्चेत्तव सङ्गलौलुपमति रुन्धीत किञ्चिन्न तां
रोधोभ्यां किमु रोधनं दृशमिते हे नाथ नद्यास्त्वयि ॥१॥

उत्तुङ्ग (ऊंचे) गिरिशिखर की तलहटी के विवर में से थोड़ा सा जल लेकर, कितनी ही कठिनाई झेलती हुई तटिनी मन्द-मन्थर गति

से चली है। बार-बार कितने ही पर्वतखण्ड, कितने ही मरुस्थलों को पार करती हुई अजेया (किसी से भी हार न मानने वाली) होकर वह चली जा रही है किसी सुदूर-स्थित प्राण-बन्धु की स्मृति से प्रेरित हुई। हे बन्धु ! तुम बहुत ही दूर हो, तब भी तुम्हारे संग की लालसा में बढ़ी जाती हुई तुम्हारी उस अभिसारिका को जब कोई भी बन्धन (बड़ी से बड़ी बाधायें) नहीं बाँध पा रहा है, तब कहो तो नदीनाथ ! जब तुम सचमुच उसके नयनगोचर हो जाओगे तब तुम्हारे वक्ष में समा जाने के लिये अदम्य उच्छ्वास से भरी उस तटिनी के दोनों तट क्या फिर उसके बन्धक रह पायेंगे ? (जिन तटों ने उसकी अनन्यता को प्रगति दी है वे तुम्हारे सम्मुख आ पहुँचने पर क्या उसे रोकेंगे ?)

दावाद् दाहभिया पलायनपरं तृष्णातुरं धावितं
दूरादाह्वयसे महाजलनिधे साक्षान्न दृष्टोऽपिचेत्।
किं क्लिष्टं सिकतासु लुण्ठिताङ्गमवशं तप्तासु वेलाभुवि
भीमोर्मिध्वनिदीर्णकर्णपटहं पायान्न ते वारिदः ॥२॥

दावानल के भय से पलायित (भागे हुए) वन्य चातक के समान जो कोई स्निग्ध जलनिधि की चाह में प्राण-पण से चल दिया है, हे महावारिधि ! तुमने उसके नयनों के अगोचर ही रहते हुए उसे पुकारा है; किन्तु, तुम्हारी ही ओर अनिमिष दृष्टि लगाये बढ़े आते हुए उसको यदि तुम अपनी तटवर्तिनी तप्त वालुका में विलुण्ठित कर दो, तुम्हारे उत्तुङ्ग तरग-भंग यदि उसे विकलांग कर डालें, उन तरंगों का भीम-भैरव-भीषण गर्जन यदि उसको बहरा बना दे; (इन सबके कारण) यदि वह तुम्हारी सौम्य, उदात्त, मङ्गलमयी अभयवाणी न सुन पावे (अथवा तुम्हारे बहिरङ्ग रूप व पथ की विभीषिकायें उसे तुम्हारी मंगलमयी अभयवाणी सुनने न दें), तब (वैसी दशा में क्या सचमुच तुमसे मिले

बिना ही उसका जीवनान्त हो जायेगा, क्या कभी भी किसी भी उपाय से तुमसे वह मिल नहीं पायेगा, उसकी अदम्य व अनन्य तृषा इन अन्तरायों के कारण सदा के लिये अशमित ही रहेगी ?) हे सिन्धु ! तुम्हारा ही समुदित रूप मेघवारि उस बेचारे निरीह प्राणी की रक्षा नहीं करेगा ? (साधन-पौरुष में परास्त मथित-बल दलित आर्त्त प्रार्थी पर करुणा-कृपा-वर्षण नहीं होगा क्या ? तथा वह कृपाम्बुवर्षण साधन-पौरुष से लभ्य अर्थ की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है क्या ?)

यस्यान्तःकरणं स्वयं प्रवहति त्वत्प्रेमसन्धित्सया
किं तस्य क्वचिदेव बाधनिवहात् त्वत्प्रेष्ठसङ्गाच्च्युतिः ।
नद्या नाथ इवासि तस्य हि गतिः कार्पण्यभाग्यं गत—
—स्तृष्णार्त्ताविव चातकस्तु वृणुते मेघाम्बु सिन्धूत्थितम् ।।३।।

तुम्हारे प्रेम के सन्धान में जिसका मन स्वयं ही अकुण्ठ, अजेय आवेग से बढ़ा चला जा रहा है, उस, प्रेष्ठमिलन के लिये व्याकुल (सौभाग्यशाली या भाग्य के धनी) को वज्र के समान दुर्जय बाधायें भी कैसे रोक सकेंगी ? नदी की जैसी गति नदीनाथ के प्रति होती है, वैसी ही तो गति उसकी भी है असीम के शाश्वत आश्लेष के लिये ।

किन्तु जिसके भाग्य में शत-शत कुण्ठाओं व कार्पण्यों द्वारा अवरोध ही बदा है, जिसको कुण्ठा-कार्पण्य-परिधि ने उसकी हृत्तन्त्री को मनोनीत या अभीष्ट स्वर में एक बार भी झङ्कृत हो उठने का अवकाश नहीं दिया, प्रत्युत जङ्ग लगकर समाप्त ही हो जाने को विवश किया, उस अकिञ्चन, आतुर के लिए, दाव-दहन के भय से पलायित चातक के समान तृष्णा से ओठों तक प्राण आ गये हैं जिसके, ऐसे दयनीय के प्रति, हे एकान्त (एकमात्र) दयित प्रेमास्पद ! तुम्हारा अहैतुक प्रेम मेघ के समान उदित होकर अभीष्ट वर्षण द्वारा, उस बेचारे की जन्म-

जन्म की मर्मी साध (हार्दिक अभिलाषा) व आर्त्ति को नहीं मिटा देगा ? दर-दर के भिखारी को परमाभीष्ट देकर अयाचक नहीं बना देगा ?

कृति व कृपा

व्रजसि यदि समीपं निर्झराः स्वादु वारि
ददति गहनतुङ्गे तुभ्यमद्रावभीष्टम् ।
जहति जलमुचः किं वारितृष्णां निषण्णां
क्वचिदपि कृतिलब्धः, वर्षितोऽर्थः क्वचिद्वा ॥

यदि तुम दुरूह, गहन, उत्तुङ्ग पर्वतों को पार करते हुए स्वतः अनवरत प्रवहमान निर्झर के समीप पहुँच जाओ तो वे (निर्झर) तुम्हें सुस्वादु जल यथेष्ट परिमाण में दे ही देते हैं। अथवा वह शिखरस्थ निर्झर समीप पहुँच जाने पर तुम्हारी अभिलाषा, आकांक्षा पूर्ण कर ही देगा अवश्य। किन्तु मर्मान्तिक तृष्णा व आर्त्ति-भरे हृदय से यदि तुम पथ की धूल में पड़े हो तथा ऊपर की ओर मुख किये हुए बस ताक रहे हो गगन की ओर, तुम्हारी असमर्थ दशा को मौन वाणी में व्यक्त कर रहे हो तुम्हारे नयन, तब (वैसी अवस्था में—पर्वत पर आरोहण तो दूर रहा, एक कदम बढ़ाना भी अशक्य होने पर—) अवश्य ही करुणार्द्र जलधर गगन-सीमान्त में उदित होकर स्वयं तुम्हारे समीप आयेगा और अमृतवर्षण से तुम्हें आप्यायित, सन्तुष्ट करेगा। दोनों स्थलों में अन्तर बस इतना ही है कि कहीं तो अभीष्ट धन मिलने के लिए बहुल प्रयास व यत्न करना होता है, और कहीं उनके अहैतुक कृपा-वर्षण के भरोसे एकान्त अनन्य भाव से केवल उसी की आशा पर निर्भर रहना होता है।

अवशहय इवेतो धावमानं मनो मे
ध्रुवपथगतिशीलं सारथेः प्रग्रहेण ।
उपलनिगड़मुक्ताकृष्टवेगा सरिन् मे
बहुमुखसरणीनां सङ्कटेऽस्तु त्वयाब्धेः ।।

वश में न आने वाले अश्व के समान इधर-उधर दौड़ता रहने वाला मेरा मन, हे सारथि ! तुम्हारे हाथ में, तुम्हारी लगाम (प्रग्रह से वश में आकर ध्रुवपथ पर चलने वाला बने । हे नाथ ! तुम्हारे आकर्षण से, तुमसे मिलने के आतुर सम्वेग से एकमुखी होकर मेरी जीवन (हृदय-) सरिता शिलाओं की बाधाओं से मुक्त होकर तथा अनेक शाखा-प्रशाखाओं में न बँटकर बहुमुखी होकर मार्ग में ही सूख जाने के सङ्कट से बचकर,—अबाध गति से केवल तुम्हारी ही ओर बढ़ती जावे ।

विश्वतृप्ति व मेरी तृप्ति

पततु जलदबिन्दुः शुष्ककण्ठे मदीय
उपरिमुख इदं चेत् कामये चातकोऽहम् ।
गलति नभसि मेघः केवलं किं मदर्थं
यदपि च मम तृप्त्यै विश्वतृप्त्यै तदस्तु ।।

'हे जलद ! मेरे शुष्क कण्ठ में एक बिन्दु जल डालो तो !' ऐसा कहते हुए यदि ऊपर की ओर मुख उठाकर माँगो, तो, हे मेरे चातक (मन) ! मेरी आर्त्त पुकार से, गगन में उदित सजल मेघ मेरे प्रति

गलकर (वर्षण के लिये प्रस्तुत होकर) क्या कभी ऐसा कहता है कि 'हे आर्त्त याचक चातक, लो केवल तुम्हीं इस जल को ग्रहण करो'। तेरी तृषा की तृप्ति को उपलक्ष्य, निमित्त बनाकर सारे जगत् का तर्पण (परितोष) हो जायेगा यही सोचकर, हे भोले प्राणी ! (प्यासे चातक) ! वह मेघ बरस जाता है।

रुचिराग

सितमपि तव वासो गैरिकाम्बुप्रलेपे
न भजति रुचिरागं कुञ्चितं चेन्निधत्से।
किमु भजति मनोऽपि प्रेमरागं मनोज्ञं
कपटकुटिलपर्व ह्यार्जवं चेन्न नीतम् ॥

तुम अपने शुक्ल (श्वेत) वस्त्र को सुपुनीत गैरिक (गेरुए) रँग में रँगाना चाहते हो; किन्तु यदि यह वस्त्र खूब तह किया हुआ, मोड़ा हुआ रखा है तो (सब तहें खोलकर इकहरा किए बिना) क्या उसमें यह चाहा हुआ गैरिक वर्ण चढ़ेगा ?

यदि अपने मन को पवित्र (सांसारिक राग-द्वेषादि कालुष्य से रहित) समझते हो, और उस पर (भगवान् के प्रेम का रँग चढ़ाना चाहते हो, तो वह रँगना क्या ठीक इच्छानुरूप हो पायेगा या सुन्दर, समञ्जस रूप से प्रेमरागरञ्जित हो पायेगा ?—यदि उसकी सब ओर की सब तहें (कुटिलतायें, कुण्ठायें, पूर्वाग्रह) खोलकर, उसे सादा, सीधा (ऋजु) बनाकर, नयनों में प्राण-मन-मोहन का ध्यान धरे हुए, उन्हीं (परमप्रेमास्पद) के रँग में न भिगो सको ? उन्हीं के प्रेम-

पीयूष-वारि से भरे पात्र में उस मनरूपी वस्त्र का प्रत्येक सूत सीधे न डुबा सको ? (अपनी अहन्ता को पूरी तरह समर्पित कर के केवल उन्हीं के प्राण से अनुप्राणित होते हुए न रह सको ?)

———

ध्यान-कमल

ध्यातुं फुल्ले हृदि सरसिजे नीलकान्तं किशोरं
कालव्यालाद् यदि मनसिजात् क्रूरगूढाद् बिभेमि।
ध्यानाब्जं वोदितशतफणः स्याच्च कालीयनागो
याचे वेणु-स्वनन-परमोल्लासमाधुर्यलास्यम् ।।

मेरे मानससरोवर (हृदय) में जो शतदल कमल खिला है, उसी कमल के बीच में मैं (पुजारिनी) आज ध्यान-आसन लगाकर बैठी हूं। सभी (षोडश) उपचारों से भली प्रकार पूजा कर के आज अपनी साध सफल करूंगी। किसकी पूजा ? अपने एकान्त (एकमात्र) प्राणधन उसी नीलमणि नवलकिशोर की। किन्तु, यह क्या ? प्रफुल्ल कमल के मृणाल में कहाँ छिपा बैठा था यह क्रूर कालव्याल (सर्प) ! वह कौन ? ध्यानरूपी शतदल कमल के स्थान पर सौ भयङ्कर फनों वाला—गुप्त अन्य (उक्त व्रजराज से इतर लौकिक) काम ! आततायी भुजङ्ग ! ओह ! (बेचारी पुजारिणी भय से कातर हुई काँप रही है, उसके प्राण जर्जर हो रहे हैं इस भीषण जन्तु के अत्युष्ण गरल-भरे निःश्वासों से)। हे मेरे नाथ ! कहाँ हो, मेरी तुम्हारे प्रति उन्मुख चेतना भी अतल मूर्च्छा में डूबी जा रही है। ऐसे विषम-सङ्कट में अन्य समस्त आर्त्तियाँ, याचनायें छोड़कर बस केवल तुम्हारा दर्शन चाहती हूं, वही माँगती हूं,

हे मेरे नवलकिशोर परमबन्धु! कालियनाग के सिरों पर अपरूप नृत्य करते हुए वेणुवादन-तत्पर मोहन! मुझे भयाकुल करने वाले इस नाग के भी समस्त फणों को झुका लो अपने उन मृदुल नृत्य-विलासी चरणों में। परम उल्लास के प्रकाशक लास्य की माधुरी रूप मञ्जीर के शिञ्जन-रव से, इस ध्यान-कमल को प्रस्फुटित कर दो ताकि यह तुम्हारे ही मधुतम रस से भर उठे।

तृष्णा का जल

खनसि निजकराभ्यां सैकतं फल्गुवक्षो
मृदुमलिनपयोभिः शाम्यति व्यग्रतृष्णा।
विरमसि यदि यत्ने शुष्यति क्षीणधारा
सरतु सपदि गूढं तोयमुत्सात् प्रकामम् ॥१॥

तृष्णा से व्यग्र, व्याकुल तुम पृथ्वी की ऊपरी सतह के नीचे बहती हुई फल्गुधारा के ऊपर से दोनों हाथों से बालू हटाकर, थोड़े से (एक अञ्जलि) जल से किसी प्रकार कण्ठनाली भिगा लेते हो। आलस्य के कारण वह चपल बालू हटाते रहने का परिश्रम यदि छोड़ दो तो

वह नन्हा गर्त्त बालू के वक्ष में ही प्रविष्ट होकर सूख जायेगा। पुनः तृष्णा मिटाने के लिये बना नहीं रहेगा। इसलिये हे प्यासे प्राणी! धीर-स्थिर होकर, यत्न में कृपणता न रखकर, चिरवहमान स्वादु जल के पिपासु बनो, सर्वत्र उसी को खोजो। गूढ़ (गहरे) अन्तस्तल में से उत्स (स्रोत) ही फूट उठे ॥१॥

———

मयि मनसि तव रहसि मधुमिलनमयि माधव!
शृणु विरहविषविधुरमिह रुदितमपि चान्तरम्।
हृदि लससि यदि रसिकनट! रहसि वर-बान्धव!
वद तुदसि कथमनिशमिह कुलिशमिव पञ्जरम्॥

ओ माधव! तुम मेरे मन में अथवा मेरे मानस निकुञ्ज में एकान्त स्थल पर मेरे साथ चिरमिलनपाश में आबद्ध ही तो हो, तब भी सुनो, तुम्हारे विरहरूप विष से विधुर दग्ध सा मेरा यह अन्तर (हृदय) तुम्हारे ही लिये क्रन्दन करता हुआ, आँसुओं के रूप में स्वयं ही गला (द्रवित हुआ) जा रहा है।

हे रसिकशिरोमणि नटवर! मेरे वर-बान्धव! मेरे अन्तर (हृदय) के निभृत स्थल में अहर्निश तुम रास-विलास कर रहे हो, तब कहो तो, मेरे हृदयपञ्जर को (अपने विरहरूपी) वज्र के समान कठोर आघातों से तोड़ क्यों डाल रहे हो?

———

बद्धे कूपे यदि निवसनं कण्टके पङ्कतल्पे
कूपाधस्ते नियतवहना भोगवत्यम्बुधारा।
वासश्चेत् ते सरसि कृपणे वारिदाम्बु प्रकामं
स्रोतस्विन्यां प्रचुरमिलितं वारि चान्योपनद्याः॥१॥

कूपे पङ्कादिजनितमलं स्वात्मकृत्यापसार्य्यं
कर्मापास्तं प्रकटितमलं फल्गु कारुण्यमन्तः।
वृष्टिः साक्षात् परमकरुणा वारिदः सद्गुरुर्यो
मित्रं या ते ह्युपकृतिसरित् योजयेत् यत्सुयोग्यम्॥२॥

हे जीव! कर्मदोष के कारण यदि तुम्हारा निवास बँधे कूँए में, काँटों से भरी पङ्कशय्या पर ही हुआ है, तो भी उसके लिये हताश न होना। क्योंकि तुम्हारे कूँए के भीतरी सतह में भोगवती फल्गु जलधारा निरन्तर बह रही है। यदि कहो कि मैं उस बँधे कूएँ में नहीं, एक क्षुद्र सरोवर में रहता हूँ, तो भी तुम्हें निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि उस सरोवर का जल सूख जाने से कहीं तुम कष्ट न पाओ इसके लिए गगन में उदित मेघ सदा ही तुम्हारे इस आवास को भी नवीन वर्षा जल से भर देने के लिए प्रस्तुत है। पुनः यदि कहो कि भोगवती फल्गुधारा से जिसमें सदा जल-पूर्णत्व सम्भव है ऐसे कूए में मेरा वास नहीं है; और न ही उस सरोवर में रहना मेरे भाग्य ने मुझे दिया है जिसे कि जलद का आश्वास सुलभ है; प्रत्युत मैं तो एक छोटी सी स्रोतस्विनी के तट पर रह रहा हूं;—तो भी इस नन्हीं धारा के सूखकर समाप्त हो जाने का भय न करो! ऊँचे गिरिशिखर का तुषार पिघलकर कितनी ही उपनदियाँ बनकर आकर तुम्हारी उस नन्हीं धार में मिलकर तुम्हारा भरण-पोषण करेगा!

अच्छा, (किन्तु हाँ) कूएँ में कीचड़ आदि के रूप में जो मल सञ्चित (जमा हुआ) है, उसे हटाने के लिए उपयुक्त कर्मों का अनुष्ठान तुम्हीं को करना होगा, उसी के फलस्वरूप वह पङ्करूप प्रकट मल दूर हो सकता है, और वह होने पर ही तुम्हारे कूएँ के अन्तस्तल में चिरवहमाना करुणा की फल्गुधारा इस कूएँ को स्वादु, स्वच्छ जल से भर देगी।

प्राय: सूखा हुआ सरोवर जिस वृष्टि की अपेक्षा (प्रतीक्षा) में रहता है, वह है साक्षात् 'उन' की परम करुणा। वह करुणा ही सद्गुरु रूप में घनीभूत वारिद के रूप में समुदित होकर तुम्हारे तड़ाग को पुन: स्निग्ध, स्वच्छ जल से भर देगी।

और अन्त में, पर्वत का हिम गलकर जो उपनदी आकर तुम्हारे साथ मिलेगी, वह उपनदी क्या है जानते हो? वह है तुम्हारे साधन-पथ के सहायक व सुहृत् मित्रगण। वे सुमित्र तुम्हारे सुहृत् व सहाय बनकर तुम्हारे लिये जो सुयोग्य है उसे जुटा देंगे।

चित्रं वर्णालिकुहकं तनोति यदुपलं तटे सैकते
मुक्तामाणिक्यरजतभ्रमेण किमरसि द्रुतं वातुल।
सिन्धौ गाढं न गमनं विना मणिवर: करे लभ्यते
यस्य स्पर्शेण कनकतां याति तदुपलं मणिव्याकुल॥

श्रीरामपादाब्जपरागरेणुं
स्पृष्ट्वाऽप्यहल्योपलदेहमुक्ता।
रामेति रत्नाकर एव नाम्ना—
—ऽभूद् देववन्द्योऽपि कविर्महर्षि:॥

सागर की बालुकामयी वेलाभूमि (तट) पर यह उपलखण्ड (दिन-मणि व चन्द्रमा की किरणें पड़ने पर) रंगों का जो इन्द्रजाल फैला रहा

है ! हे वातुल ! तुम उसी चमक को भ्रम से मणि, माणिक्य, रजत आदि समझकर उस ओर वेग से बढ़े जा रहे हो—उन पत्थर के टुकड़ों को बटोर लेने के लिए—ऐसा मैं देख रहा हूं। किन्तु मणियों के लिए व्याकुल लोलुप ! तुम जानते हो क्या ?—कि इस सिन्धु के 'अतल' में भली प्रकार डुबकी लगाये बिना (या न लगा पाने पर) तो किसी प्रकार भी उस उच्चकोटि के मणि को पाया नहीं जाता, जिसके स्पर्श मात्र से ही तुम्हारे बटोरे हुए पुनः फेंके हुए ये पत्थर के टुकड़े भी तत्काल काञ्चन हो जायेंगे। भला क्यों तुम पागल की तरह तप्त बालू में पारस को खोजते-खोजते व्याकुल हुए चमकीले पत्थरों का ही ढेर जुटाने में परेशान हो रहे हो ?

पारसमणि ? हाँ, तुमने सुना नहीं क्या ? कि श्री राम के चरण कमलों के पराग रूप धूलि के स्पर्श मात्र से ही पाषाणी गौतमी (अहल्या) उस पाषाण देह से मुक्त हुई थीं ! फिर क्या साक्षात् स्पर्श से ही ऐसा होता है ? दस्यु रत्नाकर अपनी जड़ रसना से 'राम' इस महानाम के उच्चारण की चेष्टा करने भर से आदि कवि वाल्मीकि हो गये थे—यह भी नहीं सुना क्या—कङ्कड़-पत्थरों के पीछे पागल, अथ च पारस रत्न के कंगाल, ओ मेरे अबूझ-सयाने (भोले-भाले) 'अहं' !

कथमयि नलिनाक्ष ! लोचनं निमीलितं ते
तव मुखशशिचारुचन्द्रिका न रोचते किम्।
तिलककुमुददाम कौमुदीं समीहते चेन्
न सितदशनधाम किं सहोदितौ रवीन्दू ॥

हे कमलनयन श्यामसुन्दर ! तुम्हारे ये (गोपीजन-मनोविमोहन) उज्ज्वल नयन तारा इस प्रकार से निमीलित (अधमुँदे या पूरा ही मुँदे हुए) क्यों देख रहा हूं ? नेत्र खोलकर देखने में क्या तुम्हें कोई शङ्का

हो रही है ? क्यों, शङ्का कैसी ? कमलिनी को तो चाँदनी अच्छी नहीं लगती न ! दिनमणि की किरणों के रहते ही उसका रूप-रस विलसित होता है। इसीलिए शायद, तुमने अपने मुख शशि की चारु चन्द्रिका में ये नलिन लोचन मूँद रखे हैं।

इधर, तुम्हारे भाल व कपोलों पर (जो दोनों ही पुन: छलकती लावण्य सुधा रूपी जल से पूरी तरह भरे हुए सरोवर हैं) अलका तिलक रूपी कुमुदिनियाँ तुम्हारे वदन कलानिधि की कौमुदी की ही कामना कर रही हैं—ऐसा देख रहा हूं। किन्तु मुक्ता-पंक्ति जैसी धवल कान्तिमयी तुम्हारी (ईषत्-स्फुट) दन्त पंक्ति ? वह तो दिवाकर की समुज्ज्वल आभा का ही आप्यायन करती है ! हे मेरे प्रियतम बन्धुवर ! तुम्हारे इस मदन-विमोहन श्रीमुख में शशि व भानु दोनों ही एकसाथ व सदा ही समुदित हैं क्या !

धीकमलविकाशाय ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
भावकुसुमरुच्यर्थं रोचिषां रोचिरेव तत् ।।

प्रेम की आँखों से जो देखा गया उसे ही अब ध्यान की दृष्टि से देख लो। श्रीकृष्ण के मुख में जिन दिवाकर व निशाकर का एक साथ उदय तुमने देखा—वे दोनों क्या हैं जानते हो ? गायत्री मन्त्र में सविता की जिस वरेण्य ज्योति की बात सुनी है, वही सब ज्योतियों की ज्योति श्रीकृष्ण वदन में चिर समुदित रवि है, जिससे हमारी धीरूपा कमलिनी विकसित होती है ('धियो यो न: प्रचोदयात्') और, मेरे निभृत हृदय-सरोवर में भाव-रूपी कुमुदिनी को कौन प्रस्फुटित करेगा ? 'उन' के इस निष्कलङ्क मुखचन्द्र की चन्द्रिका—जो समस्त रोचना (शीतल प्रकाश) की रोचना हैं, इनका स्वरूप=ह्लादिनी शक्ति। रवि है संवित्। इन दोनों का युगलोदय है सन्धिनी।

हृदयमुकुरमिदं मे मरीमृज्यसे न किं
रविशशियुगलभातिर्नं देदीप्यतेऽभयम् ।
अनिशमिह मुकुरे मे पनीपत्यतां छटा
तव युगलमाधुरीयं नरीनृत्यतां मुदा ॥

(विषय-भोग आदि से मलिन) मेरे इस हृदयमुकुर को केवल एक बार नहीं, बारम्बार ही तुम मार्जित नहीं करोगे क्या ? तुम्हारे श्री अंगों की यह अपरूप कोटि-चन्द्र-सूर्य-प्रभा (युगल भाति) इस दर्पण में प्रतिफलित होने से और भी अतिशयित होकर देदीप्यमान नहीं होगी ? पुनः, तुम्हारी करुणा से सुमार्जित इस मुकुर में अनुपम युगलछटा बारम्बार प्रतिबिम्बित नहीं होगी ? और तुम्हारी युगल माधुरी इस मुकुर में पुनः-पुनः आनन्द-समुज्ज्वल, नृत्य नहीं करेगी ?

—: ० :—

अयि नयनखञ्जन ! मृदुलसितनर्तन !
सुकोमलाधरबिम्बविहारलालस !
पतगपतिमोदितं (शिञ्जितं) नसि लसितमौक्तिकं
सुधारसाश्रयलुण्ठिततनूं प्रसादय ॥

यमुना पुलिन में सघन वृक्ष के नीचे विराजमान श्रीकृष्ण की अनुपम, अकथनीय, वर्णनातीत रूपमाधुरी देखती हुई ललिता सखी कह रही हैं—इस विधुमुख के नयन तो ऐसे लगते हैं—मानो मृदु, मधुर, नटखट, चपल, नन्हें खञ्जन पक्षी हैं। इसीलिये कहते हैं—हे नयन-खञ्जन ! तुम मृदु लसित नृत्य कर रहे हो अवश्य, किन्तु ऐसा लगता है मानो चञ्चल होकर न जाने क्या खोजने में परेशान हुए जा रहे हो ! ऐसा

देख रहे हैं कि श्रीमुख के सुकोमल बिम्बाधरों की जो सुधा है उसी सुधा-रस में विहार करने की तुम्हारी लालसा है। किन्तु सुनो ! इस अपार्थिव सान्द्र सुधा में विहार तुम्हारे समान चटुल, चपल द्वारा होने का नहीं ! यह देखो—खगराज (इसीलिये तुम्हारे भी राजा) ने जिस नासिका में अपनी उपमा एवं सम्मोदन रखा हुआ है, उस सुघर नासिका में शोभा-यमान नवमौक्तिक क्या कर रहा है नहीं देख रहे हो ? वह नवमुक्ता भी झूमता हुआ चञ्चल अवश्य है, किन्तु वह भूलकर भी, एक बार भी सुधा-रस के जो आश्रय हैं उन (अधर विम्बों) को छोड़कर नहीं रहता, वह 'निखिल मधुर' के उस मधु में ही स्वयं को चिरविलुण्ठित रखता है। अतएव हे चपल खञ्जन ! तुम उस नासामुक्तारूपिणी कृष्णप्रेमरसिका को ही प्रसन्न करो।

निखलु चपलरत्या लभ्यते यः सुधाश्रयः।
त्वयि सुनिविड़रागः केवलं बली माधव ॥

जो निखिल सुधा के आश्रय हैं, उन्हें चपल रति द्वारा नहीं पाया जा सकता; हे माधव ! तुम में सुनिश्चित अनुराग अथवा प्रेम ही केवल एकमात्र 'बली' अर्थात् समर्थ है।

—: ० :—

रसयसि रससुनिर्झर ! रसनां मम नीरसां
कलयसि रुचिनवाङ्कुरमरुचौ मन नामनि।
लसयसि मनसि सुन्दरकुसुमां रतिवल्लरीं
कलयसि मदनभञ्जनविमलं मधुरागजम् ॥

सतां सङ्गः क्षेत्रे सुसारदानं
रुचिर्नाम्नि प्राप्ता प्रदत्तवारि।
रतिर्ध्यानोपास्तौ समीरसेवा
तदीयं मत्सर्वं मयूखिनो भाः ॥

हे मेरे सुरसनिर्झर ! मेरी इस विरस विषय-रस के भोग से नीरस हुई रसना को तुमने अपने रस से सरस बनाया है ! उसके फलस्वरूप, तुम्हारे नाम में मेरी अरुचि मिट गई। एवं रसना की सरस मृत्तिका में तुम्हारे नाम में रुचि-रूपी नया अंकुर भी तुम्हीं ने उगा दिया है। यह तो हुआ रसना का रसायन। मन की मिट्टी तो रसना की धरती से नीचे की तह में है न ! वहाँ पर तुमने क्या किया है ? रसना को तो दी है रुचि, मन को क्या दिया ? दी है—रति। मन की भी तुम्हारे ही रस से सरस मिट्टी में तुमने रतिलतिका को अतीव सुन्दर कुसुम-निचय से कैसा अद्भुत सजा दिया है ? किन्तु हे मेरे परम सुहृत् ! कहो तो पुष्पों के उस रूप-सम्भार की ओट में क्या मधुरलता का मधुफल भी लगाया है तुमने ? वह फल क्या है ? सांसारिक भोगादि सुखाभास में जो मदन संसारी को मोहित कर देता है, उसका भञ्जन ही वह फल है। अर्थात् इतर कामना के गन्ध से भी रहित राग में उत्पन्न सुविमल मधु (विशुद्ध प्रेम, प्रीति) इससे बड़ी और कोई वस्तु नहीं है।

अच्छा, खेत की उपमा दे रहो हो, तो दो। खेत में सब से पहले अच्छी खाद डालनी होती है, अपने परिश्रम से प्राप्त होने वाले पानी से उसे सींचा जाता है, जब तक कि प्रभूत वर्षाजल भाग्य से वहाँ न पड़ जायं। निखिल प्राणियों का प्राण-रूप जो समीरण है, उसका भी सेवन करना होता है, एवं सभी प्राणों का उत्स ("भुवनस्य रेतः") जो स्वयं भगवान् भास्कर (मयूखी) हैं, उनकी भी ओजस्वनी किरणों का सम्पर्क कराना या दिलाना होता है।

ये चारों यथाक्रम से हैं—

(१) साधु-सङ्ग

(२) उनके प्रसाद से प्राप्त नाम व साधन में रुचि ।

(३) अपने भीतर ध्यान-उपासना में रति, प्रीति ।

(४) 'मेरा सभी कुछ केवल तुम्हारा है' ऐसी एकान्त अनुरागमयी प्रीति ।

—: ० :—

विश्रुतः श्रुतिषु भूमा रसो वै, बिन्दवो मधूनि विश्वे क्षरन्तः ।
मूलतोऽप्यखिलधारा रसो यः, कोरकेषु मधुबिन्दुर्लभ्यम् ।।१।।
रसः किमीहो मधु-मञ्जरीषु भूमाऽप्यकामो मधुकृत् कुलायी ।
रसः किमाशो मधुरसलोलो भूमा सकामो रससारपायी ।।२।।

प्रपञ्चोपशमं सच्चिदाकाशमात्रं
व्रजे रासरसोल्लास आभासिकश्चेत् ।
मृषा वेणुरवाकृष्टगोपीविमोहनं
वृथाभासवचः कृष्णपादाब्जलुण्ठिते ।।३।।

श्रुतियों में विशेष रूप से सुना गया है—'रसो वै भूमा', अर्थात् भूमा अखण्डैकरस सामग्री है । पुनः वेद की मधुमती ऋक् में श्रुत है कि वही भूमा रसस्वरूप वस्तु मानो घनीभूत होकर मधु हुई है, एवं उसी मधु के बिन्दु विश्व में सर्वत्र क्षरित हुए हैं । जैसे बाहर की लतिका का दृष्टान्त लें । मूल से अखण्ड रस-धारा लता के सभी अंगों में (प्रत्येक पत्ते तक में) सञ्चरित होने पर भी, उसके पुष्पकोरक में मधु के बिन्दु

रूप से घनीभूत हुआ रहता है। यहाँ कहो ता रस किसकी चेष्टा से लतिका की कली में आकर मधु बन जा रहा है तथा भूमा स्वयं अकाम होकर भी क्यों उन लतावेष्टित कुञ्जों में अपने मधुचक्र की रचना कर रहे हैं। और भी, जो अखण्डैकरस है वह किसकी आशा में मधुर रास-लीला के प्रति लोल (लोभयुक्त चपल) हुआ एवं भूमा अकाम होकर भी सकाम रस के सार-स्वरूप लीलारस के पान में सकाम हुआ ?

अच्छा, तुम मायावादी वेदान्ती हो, तुम कहना चाहते हो कि सद्-वस्तु शुद्ध चिदाकाश मात्र है; जिसमें नाम रूपादि निखिल प्रपञ्च का एकान्त उपराम हुआ है। तब तुम कह सकते हो कि व्रज में जिस रास-रसोल्लास का आस्वादन हुआ करता है, वह केवल आभासिक हैं, मायिक है—जैसे कि आकाश में गन्धर्वनगर ! पुनः यह भी तुम कहोगे कि श्रीकृष्ण की मुरली-ध्वनि से आकृष्ट गोपियों का जो प्राणमनोविमोहन है वह केवल मिथ्या सम्मोहन-भर है। तुम यदि यही कहना चाहो तो कहा करो; किन्तु यह स्थिर, सुनिश्चित समझना कि तुम्हारी ये सब मिथ्या व आभासिक होने की बातें उसके लिए सर्वथा व्यर्थ हैं जिस सौभाग्यशाली व्यक्ति ने श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अपना मन, प्राण, सर्वस्व लुटा दिया है।

—: ० :—

यो भूमा परिपूर्णसिन्धुसदृशो मग्नोरसो नैजते,
वृन्दायां स उदेति केलिकुतुकी कृष्णाम्बुदो रासवृट्।
भूमा व्योमवितानमौनशयनो यो भाति शान्तोज्ज्वलो
रासास्वादलुभा स वेणुवदने राकेन्दुकृष्णे सुधा ॥

जो श्रुतिप्रसिद्ध स्वलसित, शुद्ध एकरस, अखण्ड, अनतिशय-सुखरूप भूमा है, वह स्वयं में ही परिपूर्ण (मग्नोरसः) महासागर के सदृश है।

सागर के वक्ष (तट से वहुत दूर) पर जैसे लहरियों का कल्लोल नहीं होता, वैसे ही भूमा भी 'नैंजते'—नाम, रूप, लीला आदि के प्रकाश या विकास से रहित है। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' रहता हुआ सुप्रशान्त भाव से अवस्थित है। अनन्त अपरिसीम परव्योम ही उसका वितान है, अखण्ड मौन ही उसका शयन है। वह विशुद्ध परमोज्ज्वल प्रकाश रूप से स्थित है ('आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्')।

किन्तु इस जाज्वल्यमान, शतकोटिदिनमणिप्रभा से भी अतुलनीय ('न तत्समश्चाप्यधिकोऽस्ति कश्चित्') रूप में सर्वातिशायी, अद्वितीय बने रहना मानो उसे रुचता नहीं (स एकाकी न रेमे), तब वह अपने ही 'हृत्'—आनन्द अथवा रस के आस्वादन या विलास के लिये (स्वलसित तो वह सर्वदा है, अब मानो विशेष रूप से लसित होने के लिये) वृन्दावन में केलिकुतुकी (लीलापुरुषोत्तम) रासबिहारी घनश्याम (रसवर्षणकारी श्याम मेघ) के रूप में उदित हुआ है। 'भूमा' रूप में जो कोटि-दिवाकर-तेजः था, वही इस वेणुवदन कृष्णचन्द्र रूप में, इनके अकथ-अनुपम रूप, मुरली, नूपुर आदि की सुशीतल सुधा बन गया है। स्वप्रकाश चिद्वस्तु का 'हृत्'-स्वरूप जो 'रस' है, उसके उद्रेक से वह आदित्य न बना रहकर, पूर्णचन्द्र (शरत्-पूर्णिमा के अवसर पर) के रूप में विलसित (और भी अधिक आनन्दपरायण) हो रहा है। उस रस की विलास-रूपा रासलीला के अनुरोध से 'भूमा' का 'भाति' (प्रचण्ड तेजः, सुप्रखर ज्योतिः रूप में प्रकाशमानता)-पक्ष ही स्वयं बना है श्रीकृष्णकलानिधि की (रसिक-नयनाह्लादिनी, भक्तहृदयाप्यायिनी रसिकसञ्जीवनी) सुधा तथा ह्लादिनी-सन्धिनी-संवित् का विकास।

❦

या मक्षी नियतं कषायकुरसं दुष्टव्रणं याचते
सा किं फुल्लसरोजकोरकमधु स्वप्नेऽपि पेपीयते।
भक्तानां तव मन्दिराध्वचरतां पादाब्जभृङ्गच्युतं
तस्यै प्रेमदयानिधे मधुकणं हे गौर! भाग्यं नय॥

जो नन्हीं घर की मक्खी कषाय कुरस (पीब भरे) घृणित घाव पर तथा वैसी ही अशुचि, दुर्गन्ध युक्त, सड़ी-गली बीभत्स वस्तुओं पर ही लुब्ध हुई निरन्तर उन्हीं में इतस्ततः बैठती रहती है, वह क्या कभी स्वप्न में भी वह मधुरस पी पाती है जो कि विकच कमल के हृदय-रूप कोष में रहता है! वह वेचारी भला कैसे उसका आस्वाद पायेगी! और उसका आस्वाद पाए विना अशुचि में भटकना क्यों कर छोड़ेगी! किन्तु कौन उसे प्रेरित करेगा वीभत्स व्रण को छोड़कर प्रफुल्ल सरसिज की ओर जाने के लिए! तो क्या सह सदा के लिए वहीं रह जावे? हे अकारण-करुण कृपानिधि! क्या वह मक्खी तुम्हारी ही सृष्टि का एक कण नहीं है? वह अशुचि-रत है इसलिए यदि तुम्हारी कृपा-दृष्टि से वञ्चित ही रहेगी तो तुम्हारी करुणा की "अकारणता" का क्या अर्थ होगा? हे प्रेम-दया-निधि गौरांग सुन्दर! तुम्हारे मन्दिर के पथ में बढ़ते हुए भक्त रसिक यात्री के चरण कमलों का अनुरागी जो मधुकर है उसी के मुख से झरा हुआ, मन्दिर-पथ-रज में पड़ा हुआ, कोई मधु कण, परिमल-लव उस निरीह गृह-मक्षिका के भाग्य में ला दोगे क्या? कहो तो मेरे नाथ! प्रेमैक-विग्रह दया-परायण प्रभो! इस मक्षिका को मधु लिप्सु बना लोगे? अथवा दया करके ऐसा कर ही दो तो!!

—: ० :—

विचलति मम चित्तं वृत्तिवैचित्र्यभङ्गं
मणय इव विभान्तु प्रोज्ज्वलास्तत्र भावाः ।
दृढ़भजनमतिः स्यान् निष्ठितं हेमसूत्रं
त्वयि भृशमनुरागो मालिकामध्यगेन्दुः ॥

कितनी आशा-आकांक्षाओं, भावनाओं, कितनी ही वेदनाओं के झूले में मेरा चित्त अहर्निश झूलता रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता। हे कृपाम्बुधि स्वामिन्, तुम ही दया करके इन सब भावनाओं-वेदनाओं को अपनी प्रभा दे कर उज्ज्वल मणि बना दो तो! साथ ही एकनिष्ठ भजन में सुदृढ़ आसक्ति-रूपी स्वर्ण-सूत्र में उन्हें गुँथ जाने दो! केवल मात्र तुम्हीं में एकान्त अनुराग रूपी पूर्णचन्द्र को उस माला का मध्यमणि अथवा सुमेरु बना दो; (और फिर अपनी वस्तु को स्वयं ही अपने योग्य बनाते हुए तुम ही उस वरमालिका को धारण भी कर लो)।

— ० :—

करयुगलमिदं मे नित्यलग्नं पदाब्जे
वद किमु करनाडीं प्रेक्षसे वैद्यराज।

जपरतरसना मे नामपीयूषमग्ना
वद किमु तव घृष्टं भेषजं लेह्यमानम् ।।
(लिह्यमाना) ।।

मेरे ये करयुगल उन (इष्ट) के चरणकमलों में नित्य लगे हुएहैं ; हे वैद्यराज ! कहो तो तुम क्यों कर या किस प्रकार ('किमु शङ्कायाम्') मेरी करनाड़ी की परीक्षा करोगे ? उनके जप में रत मेरी यह रसना उन्हीं के नामामृत के रस में चिरमग्ना (चिरकाल से व सदा के लिये) है, तब कहो तो किस प्रकार तुम्हारे द्वारा घिसी हुई (तुम्हारे द्वारा मन से बनाई हुई या मनरूपी खरल में मली हुई) इस औषध को मेरी रसना चाटेगी ?

—: ० :—

कूपे चेत्तव गेहमत्र कृपणं हे जीव भेकोपम
मुश्चास्फालनमम्बुनीह मलिने स्वल्पे च मन्दाशय !
भाग्यं चेन्न विहाय कूपमचिरं यातुं च सिन्धुं सर
उद्घृत्याशु कथं न पङ्कममलं फल्गूदकं याचसे !!

हे भेकोपम (क्षुद्र मेंढक के समान) जीव ! यदि तुम्हारे भाग्य ने कूएं में ही तुम्हारे लिये कृपण (छोटा सा, सङ्कीर्णं) घर निर्द्धारित कर दिया है ('बस यहीं रहो' मानो ऐसा कहकर तुम्हें कूएं में ही रहने को विवश कर दिया है) तो भी, हे मन्दाशय (मन्द, अल्प भाग्य या बुद्धि वाले जीव) ! इस कुएंरूपी घर में, थोड़े से व मलिन जल

में (मिथ्या मोह-वशतः जो) उछलकूद (कर रहे हो, उसे) छोड़ दो (अत्यन्त अल्प शक्ति वाले होकर भी जो प्रतिक्षण 'मैं' व 'मेरा' के अभिमान में कभी मदमत्त रहते हो, कभी उन 'मैं' व 'मेरा' का व्याघात देखकर शोकमग्न हो जाते हो, यह मिथ्या अहङ्कार और उससे प्रेरित होकर किये जाने वाले कार्य छोड़ दो)। और फिर; इस कृपण मलिन (कम व कीचड़भरे जल वाले) कूएँ को त्याग कर असीम सागर (परमहंसावस्था में प्राप्य ब्रह्मज्ञान) या उदार, स्वच्छ सरोवर (विशुदभावमयी, विमला भक्ति) में जा पाना यदि तुम्हारे भाग्य में न हो (अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा—इन तीनों एषणाओं का त्याग कर के उपर्युक्त ब्रह्मज्ञानरूपी सागर या विशुद्धा भक्तिरूपी सरोवर में पहुँचना तुम्हारे भाग्य की मन्दता के कारण सम्भव न हो) तो तुम्हारे इस कूएँ का ही पङ्कोद्धार करने (अशुभ कर्मवासनाओं द्वारा सञ्चित पाप-पङ्क को शुभकर्मों के अनुष्ठान द्वारा निकाल फेंकने तथा तुम्हारे द्वारा ही बढ़ाई गई एवं उत्तरोत्तर संकीर्णता बढ़ाने वाली मलिनता को दूर करके अपने उसी घर को यथासम्भव स्वच्छ बनाने) के लिए यत्नरत क्यों नहीं हो रहे हो ? एवं (पङ्क के निकल जाने पर, पङ्क के स्थान पर नया जल भर जाने से अधिक गहरे हो गये हुए–) उस कूएँ में ही (इष्टदेव की अहैतुक करुणारूपिणी) फल्गुधारा (भूमि की भीतरी सतह में सर्वदा बहते रहने वाले अधःस्रोत) की, (प्रपत्तियोग द्वारा) याचना क्यों नहीं करते ? या कूएँ में ही अधःस्रोतस्विनी क्यों नहीं माँग ले रहे हो ??

श्री श्री जगद्धात्री

धात्री या जगतां कुतो मृगपतिस्तस्या भवेद् वाहनम्,
संहन्त्री च कटाक्षपातमहसा शस्त्राणि धत्ते भुजैः।

क्षोणी कृष्णमतङ्गमुण्डरुधिरस्रावेण शोणीकृता,
सा गीर्वै परमाऽपि नादगमना मुण्डश्च छिन्नासवः।
एवं स्वीयजपादिसाधनकृतावध्यात्मसंयोजना ॥

सर्वाधारा जननी जगद्धात्री तो निखिल जगत् की धात्री (धारण व पालन करने वाली) हैं, तब क्यों उन्होंने मृगेन्द्र को अपना वाहन बनाया है, एवं आधार-स्वरूपा होते हुए आधेयरूपा भी बनी हैं ? पुनः, एकमात्र भ्रूकटाक्षपात के तेज द्वारा जो निखिल सृष्टि का संहार करती हैं, वे अपनी चारों भुजाओं में नाना शस्त्र-प्रहरण क्यों धारण किये हुए हैं ? ऐसा है कौन जो उनके तेज द्वारा व्याप्त व वशीभूत न हो ? अथवा उनके निधन के लिये, उनके प्रति समर की भूमिका ले सके ?

पुनश्च, वाहन सिंह के पदतल में जो रुधिरस्रावी कृष्णमतङ्ग का मुण्ड पड़ा हुआ है, उसके शोणित से तो देखता हूं पृथ्वी रक्तवर्णा हो गयी है, यह मुण्ड एवं उससे निःसृत शोणित-स्राव क्या हैं ?

हे मातृ-साधक तुम क्या अपनी साधना के अनुबन्ध के अनुरोध से इन सब की अध्यात्मभाव-संयोजना नहीं करोगे ? या केवल भाव-विस्मय से विस्फारित नेत्रों से माँ की मूर्त्ति के सम्मुख खड़े ही रहोगे ? उनके अरुण चरण-कमलों में सर्वरहस्योद्भासिनी अध्यात्मदृष्टि है, उस दृष्टि के उन्मेषित हुए बिना तुम माँ को अपनी अन्तरात्मा में स्वमहिमा से सदा प्रकट नहीं देखोगे।

जैसे मान लो, तुम मन्त्रयोगी हो। तुम माँ की भावना करो—निखिल मन्त्रों की जो प्राण की प्राण हैं, उस, देवीसूक्त में प्रसिद्ध, परमा वाक् के रूप में। उनका प्रकट विग्रह कला-नाद-बिन्दुमय है। देखो वे सर्वाधारा होकर भी अभिन्नतनु नाद एवं प्राणब्रह्म के रूप में सृष्टि में सर्वत्र छन्द से गतिविधान कर रही है, अर्थात् नादमूर्त्ति सिंह को उन्होंने अपना वाहन बनाया है। उनके चार हाथों में परा, पश्यन्ती,

मध्यमा, वैखरी, पाद-मात्रा-कला-काष्ठा, मन्त्र-ऋषि-छन्द-विनियोग— इत्यादि के सङ्केत आयुध के रूप में परिकल्पित हैं, और कृष्णमतङ्ग है तुम्हारा अज्ञान व मोह; उसका मुण्ड है तुम्हारी विच्छिन्न, खण्डित, प्राणवृत्ति। नाद का उदय होने पर वे सब विच्छिन्न प्राण-प्रयत्न (जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न वर्ण व कला है) एकीभूत प्राण-नाद रूप रुधिर में पर्यवसित होकर तुम्हारी इस स्वानुभूति की भूमि (क्षोणी या क्षिति) को शोणीकृत (प्राणैकस्वरूप) बनायें। अर्थात् छिन्न-भिन्न न रहकर तुम अखण्डैकचिद्रस प्राण-ब्रह्म ही बनो।

—: ० :—

उद्याने तव वासना जनयितुं कल्पद्रुमं कञ्चन
स्यादादौ सुधिया सुबीजचयनं सारादिदानं मृदि।
यावद् भूरि न वर्षणं जलमुचस्तावद् ह्यपामर्पणम्
यद्युक्तं निजसाधनान्तरदृशा योग्येन तद् युज्यताम्॥

तुम्हारे उद्यान में कोई कल्पतरु उगाने की इच्छा तुम्हें हुई है, बहुत अच्छी बात है। उसके लिए सुबुद्धि से युक्त होकर सुबीज (सच्चा व सतेज बीज) का चयन करो, एवं उद्यान की मिट्टी में इस अभिलषित बृक्ष के लिए उपयुक्त खाद इत्यादि डालो। (कंकड़-पत्थर व जंगली घास आदि से रहित कोमल व खाद युक्त मिट्टी तैयार करो। ऐसी भूमि में बीज वपन करो)। जब तक मेघ से प्रभूत वर्षा न हो, तब तक आलस्य रहित होकर नियमित रूप से, बोये हुए बीज, वा निकले हुए अंकुर आदि को अवश्य ही जल से सींचते रहो।

उद्यान के सम्बन्ध में कहे गये इन सभी कार्यों की, अपनी साधना द्वारा उन्मेषित आन्तर या अध्यात्म दृष्टि के प्रति योजना करो। जैसे :— उद्यान है—जीवन व साधन-क्षेत्र, यथा-सम्भव सुष्ठु रूप से सुरचित व सुसज्जित (जङ्गल की भाँति अव्यवस्थित, कण्टकादि से आकीर्ण नहीं); कल्पद्रुम है—इष्ट परमफल देने वाली सिद्धि। सुबीज है—सन्त सद्गुरु से प्राप्त तुम्हारे उपयोगी बीजमन्त्र एवं आनुषङ्गिक शिक्षा-दीक्षा। मिट्टी है—तुम्हारी अपनी सत्ता या धातु, उसी में बीज बोना होगा। खाद आदि हैं—(१) गुरुवाक्य व वेदान्त वाक्य में अटल विश्वास या श्रद्धा = खाद, (२) मुक्त वायु (साधुसङ्ग आदि चित्त शुद्धि जनक आचरण) (३) सूर्यकिरण (नित्यानित्य वस्तु विवेक द्वारा बुद्धि का प्रबोधन)। इन तीनों (खाद, मुक्त वायु, तथा सूर्यकिरण) में से प्रथम विशेष रूप से तमोगुण का अपसारण करता है, द्वितीय रजोगुण का निरसन या उपशम करता है, एवं अन्तिम सत्त्वगुण का उद्‌बोधन करता है।

मेघ का प्रभूत वर्षण है—श्री भगवान् की अकुण्ठिता, नित्या अनुग्रह शक्ति का साक्षात्, आत्मप्रत्यय में, गोचर होना, अनुभूत होना।

जल-सेचन है—साधना के अनुकूल अपना निरहङ्कार प्रयास, जब तक 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (गीता १८/६६) अथवा 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते' (गीता ६/२२) इस प्रकार का भाव न बन जाये तब तक प्रयास करते रहना चाहिये।

इसी प्रकार युक्त की योग्य के साथ योजना कर लेवें।

अयि विहङ्ग विहाय विहायसं
वरवनस्पतिनीडनिवासनम् ।
किमधुना तव पक्षविधूननम्
चरणशृङ्खलशिञ्जिततालिकम् ।।

ओ (पिञ्जरवासी) विहग ! देखता हूं तुमने उदार उन्मुक्त अम्बर में (स्वच्छन्द) विचरण छोड़ दिया है, एवं उत्तम (ऊँचे विशाल) वनस्पति (वृक्ष) पर बसाये हुए अपने नीड़ में रहना भी त्याग दिया है। अब क्या तुम (बन्द पिञ्जरे रूपी आवास में) अपने पैरों की शृंखला के शिञ्जन (झनकार) के ताल के साथ-साथ अपने पंख फड़फड़ा भर रहे हो ?

विभिन्न अनुबन्धों में इस श्लोक के निगूढ़ भाव की योजना हो सकती है। यथा, उदार मुक्त अम्बर है—'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्'—यह अनुभूति। वर वनस्पतिनीड़ है—(जड़) सङ्गरहित होकर आत्मानुभूति के किसी भी ऊर्ध्वस्तर में रहना।

वद्धपिञ्जर है—(अविद्यादि पाश से) बद्ध, संसारी जीव की अवस्था।

पक्षद्वय है—प्राणन व मननवृत्ति।

चरण शृंखला है—इन्द्रियदास्य, आत्मवश न होकर, न रह कर, इन्द्रियों के वश में होते जाना, हो रहना—इत्यादि प्रकार से योजना कर लेनी चाहिये।

ओमित्येकाक्षरपरगिरो व्याहृतौ सोऽहमर्थौ
नानुस्मृत्य त्यजति च तनुं ब्रह्म सच्चित्सुखं यत् ।
का भीस्तस्य प्रभवति सदा तारकब्रह्मनाम
रामेत्येकं श्रुतिपथचरं हन्ति हेयं समूलम् ।।
(स्मारं स्मारं रघुपतिपदं यातु पारं भवाब्धेः ।।)

गीता में भगवान् ने कहा है—ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म का व्याहरण (विधिवत् उच्चारण) करते हुए तथा उन (सच्चिदानन्द स्वरूप परतत्त्व) का अनुस्मरण (ध्यान, स्वरूपचिन्तन) करते हुए जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है; यह तो अविसंवादित (कभी भी झूठ न होने वाला) सत्य है । किन्तु जो व्यक्ति इस प्रकार का व्याहरण एवं अनुस्मरण करने में असमर्थ रहते हुए ही शरीर छोड़ता है (अर्थात् जो एकाक्षर ब्रह्म—ॐ प्रणव—का व्याहरण एवं सच्चित्सुख-स्वरूप ब्रह्मवस्तु का अनुस्मरण—इन दोनों में से कुछ भी नहीं कर पाया) उसके लिए क्या उपाय है ? वही कहा जा रहा है कि इसे भी क्या भय है ? जिसका प्रभाव नित्य अकुण्ठित है ऐसा परम दयालु तारक ब्रह्म का नाम 'राम' तो विद्यमान है ? उसी एक राम-नाम (का व्याहरण व अनुस्मरण तो दूर की बात है) के श्रवणगोचर होने मात्र से मूल (अविद्या) सहित समस्त हेय—सभी प्रकार के दुःख क्लेश विनष्ट हो जाते हैं । अतएव हे सामान्य जीव ! तुम्हें भी क्या भय है ? जीवन, मरण, स्वप्न, जागरण सभी दशाओं में श्रीरघुनाथ-चरण-कमलों का बारम्बार स्मरण करते रहो, इसी से अनायास ही इस दुस्तर भवसागर के पार हो जाओ !

अलसितजडिमा चेद् दीपनी याऽग्निर्मात्रा
विचलविरसवृत्तौ सोममात्रा प्रशान्त्यै ।
अनलचयनकृद् यो रामनाम्नो रकारो
'म' इति सवनकृद् यः सोम 'आ' तो द्विसाम्यम् ॥

साधारण जीव में प्रायः तमोगुण व रजोगुण का प्रादुर्भाव रहता है; सत्त्वगुण की विशालता कदाचित् ही (बहुत कम) देखने में आती है। तमस् तथा रजस् इन दो में से भी कभी तमस् और कभी रजस् प्रबल होता है। गुणत्रय का इस प्रकार का वैषम्य उनके स्वभाव-सिद्ध परिणाम-वशतः ही होता रहता है। अच्छा, तमोगुण के आधिक्य के कारण जब देह में, प्राणों में तथा मन में 'अलसित जड़िमा' (आलस्य एवं जड़ जैसा स्तब्ध भाव) आता है, तब (सृष्टि के सब कुछ में, सुतरां वाक् में भी) अन्तर्निहित जो अग्निमात्रा है, उसको दीपनी (ज्योतित, प्रकाशित करने वाली) के रूप में चेता कर प्राप्त करना होता है। पुनः रजोगुण के आधिक्य के कारण 'विचल-विरस-वृत्ति' विशेष रूप से चञ्चल तथा अस्वस्तिकर भाव) देखा जाये, तब उसकी प्रशान्ति के लिए सोममात्रा का समाश्रय लेना होता है। क्यों कि सोममात्रा ही सर्वत्र शमन, रक्षण तथा पोषण करने वाली है (जैसे कि अग्नि में दहनी=जलाने वाली, दीपनी=प्रकाशित करने वाली, तथा पचनी=पाक करने वाली शक्तियाँ हैं)।

स्मरण रखो कि बृहदारण्यक आदि श्रुतियों ने जगत् को अग्नीषोमीय कहा है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में १३-१४ संख्यक श्लोकों में 'सोमो भूत्वा रसात्मकः' तथा 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' इत्यादि कहा गया है।

अब तुम्हारे इष्ट राम-नाम में इस अग्नीषोमीय तत्त्व का अनुसंधान करो। 'राम' नाम में जो प्रथम 'र' कार है वह विशेषतः

'अग्निचयनकृत्' है अर्थात् अग्निमात्रा का उद्दीपक है। 'म' वर्णअग्नि में सेवन करने वाला सोम है। और 'आतो' अर्थात् 'राम' नाम के मध्य में स्थित 'आ' वर्ण से 'द्विसाम्यमु'=अग्नीषोमीय समता रक्षित होती है। यह समता न रहने पर भीतर बाहर सर्वत्र गुण-मात्रा-वैषम्य-जनित अस्वास्थ्य व अस्वाच्छन्द्र्य होगा। अतएव हे रामनाम जापक! तुम पूरे प्रयत्न से इस समता की रक्षा करो।

गीता में कहा है—'समत्वं योग उच्यते' तथा 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'। राम नाम में स्वतः ही यह समता विधान विद्यमान है। फलतः काठक में कहा गया 'धातु प्रसाद' होकर 'महिमानमेति'। अर्थात्, सत्त्व शुद्धि होकर आत्म महिमा को प्राप्त कराती है॥

पिब रुचिसुखदं यद् हृद्यहैयङ्गवीनं
पततु तु गृहमक्षी पूतिगन्धेऽपितक्रे।
(निन्दितोच्छिष्टतक्रे)
वृण सवनसमाप्तौ पायसम् देवभोग्यम्
लिहतु पतितपत्रं लोलुपः सारमेयः॥
(प्राङ्गणे श्वा)
अशुचि पतितपत्रं सारमेयेण लेह्यम्॥

तुम रुचिर, सुखप्रद, हृद्य (सुस्वादु, सुन्दर गन्ध से युक्त व ताजा) हैयङ्गवीन=गोरस (ठीक पहले दिन के दूध से बनाया हुआ दही, मक्खन, आदि) खाओ, पियो। और घर की मक्खी को सड़े,

दुर्गन्ध युक्त, वासी, निन्दित, उच्छिष्ट (जूठे) छाछ आदि में पड़ने दो। यज्ञ का सवन समाप्त होने पर आज्यगन्ध से युक्त, देवताओं का भोग्य जो पायस (चरु पुरोडाश इत्यादि) है, उसे तुम ले लो; और, तुम्हारा उच्छिष्ट जो पत्तल घर के आँगन में पड़ा हो, उसे लोलुप श्वान (कुत्ते) चाटें ! अथवा अशुचि जूठी बासी पत्तल श्वान के ही योग्य है। भावार्थ स्पष्ट है।

अलिमरालविलाससरोजिनी (मृणालिनी)
कुमुदिनी च चकोरविनोदिनी।
शुचिसुभद्रमुपेक्ष्य सरोमधु (सरोऽमृतं)
मदिरशीकरलोल इहागतः !
(किमु सुरालवलोल इहागतः) ॥१॥

परभृतस्य पिकस्य परैषणं (-णा)
मुकुलिताम्रतरौ न विनिन्दितम् (-ता)।
(जुगुप्सितम्)
अशुचिषु भ्रमतोऽप्यशनेषु स
न पिशिताशनकाक इवोत्सुकः ॥२॥

हे अच्छोदसरोवर के मधुपिपासु ! देखो इस सरोवर में दिवस-भर प्रफुल्ल सरोजिनी (खिले-अधखिले कमलों से भरी लता) विराजित है,

जिसमें भ्रमर मराल (हंस) विहार करते हुए विलसित (आनन्दित) हैं। रात्रि में वैसी ही प्रफुल्लित कुमुदिनी से चकोर का चित्त-विनोदन होता है (चन्द्र व कुमुदिनी को सानन्द देखता हुआ चकोर आह्लाद पाता है)। तब कहो तो भला तुम उस स्वच्छ जलपूर्ण, अहर्निश आनन्ददायी सरोवर के शुचि सुभद्र सुधासम मधु (सुख-पीयूष) की उपेक्षा करके मदिरशीकर (हालाबिन्दु) अथवा सुरालव (अत्यल्प मादक मूढत्वापादक - मोहक सुख के नशे) के लोभी बनकर यहाँ (मिथ्या-भोग-सुख के स्थल संसार) मदिरालय में क्यों आए हो ?

पुनः देखो—पिक या कोकिल परभृत (शैशव में दूसरे द्वारा पोषित) भले ही है, तब भी मुकुल-मञ्जरी से सुवासित आम्रतरु की शाखा में उसकी 'परैषणा' (अपने आहार के लिये कुछ और चाहना, शैशव में खिलाये गये भोजन से इतर कुछ = आम्रमञ्जरी - चाहना) विनिन्दित या जुगुप्सित (घृणा के योग्य) नहीं है, अपितु सुशोभन व समीचीन ही है। शैशव में जिस काक-वधू ने कोकिल को पाला है, उसके साथ इसकी तुलना करो—पिक भ्रम से भी (भूलकर भी) कभी अशुचि भोजन के प्रति उत्सुक नहीं होता, जैसा कि पिशित = अपवित्र-भोजी काक होता है। अतएव परभृत (माया द्वारा पोषित) पिक (जीव) स्वयं (वस्तुतः) जिस 'पर' (परमात्मा को चाहता है, वह पर अवर नहीं है, 'पर' होने पर भी वह 'वर' (वरेण्य, वरणीय) अथवा उत्कृष्ट ही है।

दोनों श्लोकों का भावार्थ स्पष्ट है, सुगम हैं।
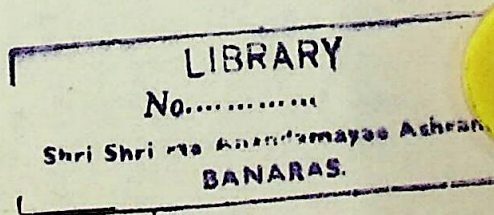
भ्रमजभयभञ्जनं

भ्रमररतिरञ्जनं

देहि पदपङ्कजविलासम् ।

विषयविषवारकं

जनिमरणतारकं

धेहि चिरनन्दितनिवासम् ॥

(हे अकारणकरुण !) भ्रम (=अविद्यानिशा में स्वरूप के अनवबोध-रूपी निद्रा) से उत्पन्न भय (दुःस्वप्न-सम संसार) को विनष्ट करने वाला; (निशा बीत जाने पर, कमल-दल मुकुलित होने पर=अपना स्वरूप प्रकट या अवगत होने पर) भ्रमर (निसर्गतः भगवदनुरागी जीव) को प्रिय लगने वाला; श्रीचरणयुगल-नीलोत्पलों में विहार (कृपया) दीजिये ।

(हे अशरणशरण ! फिर उन्हीं श्रीचरणसरोरुहों में) सांसारिक विषय-विष का वारण (त्याग) कराने वाला, जन्म-मरण-चक्र से उद्धार करने वाला (आवागमन=कदाचित् वियोग की संभावना—से रहित= "यद् गत्वा न निवर्तन्ते") नित्य-आनन्द-मय निवास दीजिये । अथवा उस भ्रमर को उन्हीं पदपङ्कजों में सदा के लिये रख लीजिये या रहने दीजिये ।

पुंसि शयितुं चेद् बिलेशयः
पथि चलितुं चेद् भुजङ्गमः ।
स्फुरतु गृहे भास्तमश्छिदो
धृतवरदण्डः पथि व्रज ॥ १ ॥
बिलेशयो यः शेते निगूढं
भुजङ्गमो यो बहिर्व्यक्तवृत्तिः ।
तमश्छिद्दीपेनावृतेरपास्ति—
र्विक्षेपहाने दण्डो विदग्धः ॥ २ ॥

दीपं विद्यात् स्वविज्ञानं नित्यानित्यविवेकजम् ।
दण्डं जानीहि सम्पत्तिं दमादिषट्संख्यकाम् ॥ ३ ॥

यदि अपने घर में सोने जाओ तो कदाचित् वहाँ बिल में रहने वाला सर्प पड़ा हो सकता है। बाहर मार्ग में चल रहे हो कदाचित् सामने रेंगता हुआ नाग मिल सकता है (हिंस्र जन्तु का किसी भी दशा में मिलना या प्रकट-अप्रकट कैसा भी साथ होना घातक है), अतः घर में सदा अन्धकार-विनाशक प्रदीप की प्रभा स्फुरित, प्रज्वलित रखो, एवं पथ में चलते समय सुदृढ़ दण्ड (लाठी) हाथ में लिये रहो। घातक के निवारण के लिए उक्त दोनों दशाओं के यथाक्रम अनुकूल ये दोनों उपाय हैं ॥ १ ॥

बिल में बसा हुआ सर्प छिपा हुआ रहता है। और पृथ्वी पर चलता हुआ प्रकट दृष्टिगोचर होता है, उसके अस्तित्व की स्पष्ट प्रतीति होती है। तमोहारी प्रदीप द्वारा, आवृति के कारण अप्रतीयमान तथा वस्तुतः वर्तमान भय की निवृत्ति होती है, तमोरूपा आवृति की ही निवृत्ति होने से। और डण्डा विक्षेप=स्थूल दृश्यमान सर्प को विनष्ट करने (मार डालने में) निपुण या समर्थ है।

यहाँ दीप से अभिप्रेत है नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से उत्पन्न होने वाला स्वरूप-ज्ञान। तथा दण्ड का तात्पर्य है शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान व श्रद्धा—यह षट्सम्पत्ति। ये दोनों मिलकर अविद्या की आवरण-विक्षेपात्मक दोनों शक्तियों को नष्ट करने में समर्थ हैं।

(विलेशय—सूक्ष्माहङ्कार, सुप्त, गुप्त, अपराधवासनायें)

(भुजङ्गम —नामापराध, असद्व्यवहार, काम-क्रोध-लोभ-मद मात्सर्य परनिन्दा, हिंसा, स्तेय, असत्यादि)

(पुर—अप्रकट गुप्त साधन)

(पथ—प्रकट साधन)

विशसि यदि वेणुकर ! कुञ्जमिह मञ्जरी
विकिरति मधुरसुरभि(ति)-विलासम्।
त्यजसि यदि केलिपर ! रासमिह चञ्चल !
रहसि रजसि सुरुचिरहितेयम्॥

हे मुरलीधर ! यदि तुम इस सघन निविड़ वृन्दा-कुञ्ज में (अथवा) वृन्दा देवी द्वारा अत्यन्त भावभीनी रीति से सुसज्जित कुञ्ज में) प्रवेश करते हो तब तो इसकी शिरोभूषण-रूपा अथवा हर्ष-व्यञ्जिका पुलकावली-रूपा मञ्जरी आह्लाद के अतिरेक से मधुर सौरभ बिखराने लगती है। और, हे प्रतिपल-नवल चपल लीलाकौतुकी श्यामल किशोर ! यदि तुम उस रसोत्सव को छोड़ कर हठात् (अकारण) अकस्मात् चल देते हो, तो तुम्हारे बिना 'शून्यायितं जगत्सर्वं' का अनुभव करती हुई यह मञ्जरी उस एकान्त निभृत कुञ्ज में भूमि पर लुण्ठित हुई (धूलि में लोटती हुई), अपनी समस्त शोभा, कान्ति, श्री, सुषमा से रहित सी हो रहती है !

सकज्जलोज्ज्वलनेत्रवामावलोकनं
भ्रू युग्मकार्मुकमुक्तं चेतोजसायकम् ।
तमालगोपितगोपबालां मृदुस्मिताम्
ऋजुक्रमेण न याति तस्मात् त्रिवङ्किमम् ।।

कजरारे व उज्ज्वल खञ्जन-नयन-द्वय का वाम ('साचिप्रसार' बिल्व-मङ्गल द्वारा दिया गया ईक्षण का विशेषण) अवलोकन "चेतोज" का सायक है (जो "साक्षात् मन्मथ मन्मथ" है, उनके द्वारा निक्षिप्त शर है)। यह बाण किस धनुष से छोड़ा जा रहा है? उन्हीं (मदनमोहन) के भ्रू लता युगल रूपी कार्मुक से। किन्तु जो 'तरुणी हरिणी' उसकी मृग्या (बाण द्वारा खोजी जाती हुई लक्ष्यभूता) है, वह गोपबाला मृदु-मधुर-सुन्दर हास्य से सुशोभित हुई, उनके रासलीला विलास के स्थल पर तमाल-तरु के अन्तराल (ओट) में छिपी हुई सी है। उनके नयनों का अनङ्गबाण ऋजुगति से (सीधे) तो वहाँ नहीं पहुँच सकता न ! इसीलिए वह हो गया है 'त्रिवङ्किम'। (बाँकी भ्रू लता से बाँकी चित-वन बाँके ही लक्ष्य की ओर धावित है, अतः तीन प्रकार से टेढ़ी है)।

सकज्जलोज्ज्वल = विशुद्ध उज्ज्वल रस (शुद्ध ज्ञानाञ्जन + शुद्ध प्रेमाञ्जन) वाम = सुन्दर = प्राणमनोभिराम।

चेतोज = शुद्धसत्त्वोर्जित चित्त में कृष्णकाम।

सायक = रसिक प्रेमियों के मर्मवेधन में समर्थ, उनकी ह्लादिनी व सन्धिनी शक्तियों का आकर्षण।

भ्रू युगल कार्मुक = भक्त रसिक के सहित लीलाविलास।

युग्म = रसिक + रसिकेन्द्रचूड़ामणि !

तमालगोपित = श्रीकृष्ण की रासलीलाविलासिनी जो योगमाया हैं, वही भूमैकरस वस्तु को विचित्र-विलसित बनाकर रसराज एवं व्रजरसिका

में 'लुका-छिपी' खेल का माधुर्य-वितान करती हैं, जिस प्रकार मुरली में सात स्वरों का अपरूप आलापन।

ऋजुक्रम=रस अथवा स्वर केवल 'ऋजु' ही रह जाय तो उसमें प्रेम विलास अथवा गमक-मूर्च्छनादि का तान-वितान सम्भव नहीं होता!

त्रिबङ्किम=अपनी ह्लादिनी-संवित्-सन्धिनी नाम की तीनों स्वरूप-शक्तियों के विलास (विविध लास्य) के कारण जो बङ्किम (बाँके बिहारी) बने हुए हैं।

दिदृक्षसे पारमपारेऽपि यात्रिन्
न पारदं नावि विजिज्ञाससे किम्।
सुतारके नामनि शुश्रूषमाणो
दयाघनं चेतसि सुस्मूर्षसे किम्?

हे भवसागर के पार जाना चाहने वाले पथिक! तुम इस अपार का भी पार देखना चाहते हो; तो उस पार ले जाने वाली नौका के जो पारद (नाव को अभीष्ट तट पर पहुँचाने वाले) कर्णधार हैं, उन्हीं के प्रति विशेष रूप से जिज्ञासा क्यों नहीं करते हो? (जो तुम्हें शोक-रूप भव-सागर का परला पार दिखा देंगे, अथवा जो उस अपर तट पर ले जाने में समर्थ हैं ऐसे कर्णधार=श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के प्रति प्रपन्न= षट्साधनादि से सम्पन्न होकर उपसन्न क्यों नहीं होते हो? अथवा प्रणि-पात, परिप्रश्न व सम्यक् सेवा से युक्त होकर अपनी जिज्ञासा उनके प्रति क्यों नहीं कहते हो?)

वे जो तारक नाम तुम्हारे कान में सुनाते हैं, उस नामश्रवण के प्रति इच्छुक रहकर, उस नाम के नामी जो करुणायतन (श्रीराम या घन-श्याम) हैं, उनको (उनके श्रीपदारविन्द को) मन से सदा-सर्वदा स्मरण रखने की इच्छा क्यों नहीं करते हो?

विनती: प्रभो मे जरीगृह्यसे किं, प्रणतीश्च पादे पनीपत्यमाना: ।
विमतीमुंरारे मरीमृज्यसे किं, सुरती: स्वभावाश्चरीकृष्यमाणा: ॥
(सलज्जा-)
ललितेऽपि लास्ये च लालष्यमाणे, रहसि प्रियायै नरीनृत्यसे किम् ॥
हृदयं कषायान्मरीमृज्यसे किं, रसनामतो नाम्नि लालष्यमाणा ।
तव केलिकुञ्जे लसद् (क्षरद्)रागरूपे यमुनातटे मे नरीनृत्यसे किम् ॥

हे मेरे प्रभु, मैं जितनी बार तुम्हें अनेक विनय-वचन सुनाता हूं, विनती करता हूं तुम क्या उतनी ही बार मेरी वे सब प्रार्थनायें सुनते हो, ग्रहण करते हो ? अथवा कभी ग्रहण करते हो कभी नहीं भी करते ? तुम्हारे श्रीचरणों में गिर कर बारम्बार मैं जो वन्दन करता हूं उन सब को तुमने स्वीकार किया है ?

हे मुरारे ! (=मुर के शत्रु, मुर असुर=मैं 'मेरा' इत्यादि भगवान् से विमुख करने वाला अभिमान; मुं राति इति मुर:) तुमसे विमुख होने के कारण उत्पन्न हुई जो मेरी विमति-कुमतियाँ हैं, क्या तुम उन सबका बारम्बार मार्जन, शोधन कर रहे हो ? जिसके फलस्वरूप मेरी विमतियाँ तुम्हारे प्रति सुरति-समूह (वृन्दावन में वृन्दा, ललिता, विशाखा आदि की भाँति) होकर सलाजमधुरा अथवा 'स्वभावा:' अर्थात् तुम्हारे ही भाव में भाविता हो रही हैं, और तुम अपनी मधुर मुरली, मदिर चितवन आदि के आकर्षण से उन्हें बारम्बार नित्यलीला की ओर आकृष्ट कर रहे हो ?

इस प्रकार के आकर्षण से फिर क्या होता है ? जब-जब तुम्हें ललित लास्य की अभिलाषा होती है (लालष्यमाणे) तब-तब एकान्त स्थल में अपनी रसिका प्रिया के समीप पुन:-पुन: विमोहन नटनृत्य करते हो ?

(यह तो परमोच्चकोटिक अथवा नित्यसिद्ध रसिक भक्त के प्रति तुम्हारी लीला हुई)

साधारण भक्त के भी हृदयस्थित कषाय (कुवासनाओं) का वारम्बार मार्जन, शोधन करते हुए उसकी रसना को नाम-पीयूष का आस्वादन करा के, उसकी अमिट चाह जगा कर, (उसी नाम रस) में नित्य निमग्ना वना देते हो ?

और रागानुग भक्त के द्वारा भावित अन्तर्लीला कुञ्ज में निरन्तर निर्झरणशील राग=प्रेम की पयस्विनी रूपा जो यमुना है, उसके तट पर (अथवा प्रेमातिरेक से द्रवित होने के कारण जिसका चित्त ही प्रेम-धारा रूपा यमुना बना हुआ है, उस मानस यमुना के तट पर) तुम मन्मथ को भी मथित, थकित, मोहित करने वाला=मदन विमोहन नृत्य पुनः-पुनः करते हो ?

—: * :—

सुमधुरवासं ललितविलासं
प्रविश मधुप मुदा केतककुञ्जम् ।
भुजगविहारं विरहितसारं
जहिहि विहग भिया कण्टकपुञ्जम् ।।

सुमधुर सौरभ के ललित विलास का स्थल जो केतकी-कुञ्ज है, उसमें, हे मधुकणरसिक मधुकर ! तुम सानन्द प्रवेश करो । किन्तु (मधुकणिका में रस न लेकर स्थूल फल आदि ही खाने वाले) हे विहग ! तुम उस कुञ्ज का सभय होकर त्याग करो, तुम उस कुञ्ज में कभी न जाओ; क्योंकि वह कुञ्ज तुम्हारे लिये मधुकुञ्ज नहीं है, परन्तु काँटों का झुण्ड है, वहाँ तुम्हारा वैरी भुजङ्ग रहता है, तथा फलरहित होने के कारण वह तुम्हारे लिये सारशून्य है । (दिव्य प्रेमानन्द तो स्वयं ही साध्य है, किसी अन्य सुख का साधन नहीं) ।

अरसिक के प्रति विशुद्ध रस का निवेदन (जैसे वृन्दावन में गोपाङ्गनाओं के साथ व्रजेन्द्र का प्रेमविलास वर्णन) अयुक्त, अकर्तव्य है, क्योंकि अरसिक उससे जड़ स्थूल लौकिक रसाभास में पातित हो जाता है; वह दिव्य प्रेमलीला अरसिक की दृष्टि में भगवान् द्वारा अपनी ही ह्लादिनीशक्ति का साक्षात् आस्वादन नहीं होता या रहता, प्रत्युत अपनी ही इन्द्रिय-तर्पणादि इच्छा में पर्यवसित हो जाता है, जो घोर अनर्थकर है।

इसीलिये किसी कवि ने कहा है—

'अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख'...इत्यादि।

—: ० :—

मा खेदीर्मे विरहविधुरा चक्रवाकि क्षपायां
पद्मिन्योऽस्यां रहितरुचयो वीतभृङ्गप्रमोदाः।
(विरसवदना)
नित्यं दीप्ता नखतरणिभा यत्र पादाम्बुराशौ
(दीप्तास्ति नखरविभाः) (पादपीयूषराशौ)
यावः प्रेमाब्जमधुमिलनस्यालयं ह्यच्युतं यत्॥
(चिरलसितस्यालयं ह्यावयोर्यत्)॥

('द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' रूपी चक्रवाक-युग्म) अविद्यारूपिणी रात्रि द्वारा विरहित के समान हो रहे हैं। उनमें से एक (जीव) अपर (ईश्वर=आनन्दस्वरूप अतएव वरेण्य, प्रेष्ठ) के विरह में शोकाकुल व्यग्र है; साक्षी रूप में अपर सुपर्ण उससे कहता है—)

मेरे विरह में व्याकुल अयि चक्रवाकी ! अब तुम निशा में और अधिक रोदन न करो। (क्योंकि) देखो तुम ही अकेली वियोग-विधुरा नहीं हो। इस क्षुद्र सरोवर में पद्मिनियाँ भी उन्हीं रात्रियों में भ्रमरों के अनुषङ्ग अथवा उनके साथ रहने पर होने वाले आमोद-प्रमोद से रहित होकर विरस म्लान शोभा वाली हो रही हैं, उनके भी मुख कुम्हलाये हैं—पँखुड़ियाँ मूँदी हैं। (संसार में कहीं भी प्रेम का अबाधित निर्वाह नहीं है)।

(किन्तु इससे क्या हुआ; अन्य भी दुःखी हैं जानकर तो किसी का दुःख दूर नहीं हो जाता; अतः—) यदि ऐसा ही है—(इस क्षुद्र सरोवर में रहते हुए निशाजनित वियोग एवं उससे उद्भूत दुःख, वेदना अवश्यम्भावी ही है)—तो; जो उदार विशाल ('तद्विष्णोः परमं पदं') श्रीचरणरूपी जलाशय है, जिसमें नखमणि की शत-शत सूर्यों के समान प्रभा नित्य समुज्ज्वला है, सुतरां जहाँ रात्रि (आवरण, वियोग) का कोई अवकाश ही नहीं है—आओ, चलो हम दोनों उसी महामानस-सरोवर (परमानन्द-धाम) पर चलें। वह चरणसरोवर जैसे कमलों का चिर-विलसित आलय है, वैसे ही वह हम दोनों का भी चिर-मिलनालय है। प्रेमरूपी कमल के खिलने का प्रकृत विकास पाने का, एवं हम दोनों (जीव व आनन्द या भगवान्) के मधुर अनन्त मिलन का वास्तविक स्थल है। (संसाररूपी क्षुद्र सरोवर में अनन्त अविच्छिन्न असीम आनन्द का कदापि अवकाश नहीं)।

—: * :—

नधरललितलतिकायां लसन् नवीनमञ्जरी
मधुरवमधुकरलोला स्फुरत् स्वकीयमाधुरी।
मम चपलहृदयवल्ली प्रफुल्लपुष्पकोरका
किमु पतति रुचिविहीना च्युतालिराजकौतुका ।।
चपलहृदयलतिकायां प्रफुल्लपुष्पकोरकम्
निपतति किमु रुचिहीनं विना रसेशकौतुकम् ।।

ललित लतिका में सुशोभिता नवीना मञ्जरी मधुर गुञ्जार करते हुए मधुकर के पुनः-पुनः स्पर्श से हर्षिता व चञ्चला हुई अपनी अपरूप माधुरी बिखरा रही है। मेरी चपलहृदयवल्लरी प्रफुल्ल-पुष्प-कोरकों से भरी तो है, किन्तु इस रस-परिपूर्ण रसिका (=दिव्यप्रेम सुमन-विकास से अनुपम शोभायमान, प्रेम-कुसुम-निचय की कल्पनातीता सुरभि से ओतप्रोत, प्रेमातिरेक से कम्पमान भक्तहृदय) के रसपिपासु रसेश्वर प्रियतम (व्रजेन्द्र) के लीलाकौतुक को पाये बिना (अथवा उससे विरहित-सी होकर) यह म्लान, व्याकुल, अधीर होकर गिरी जा रही है; अपने प्रेष्ठ आश्रय को शाश्वत रूप से पाने के पूर्ववर्ती विलम्ब को किसी भी प्रकार सहन नहीं कर पा रही है।

अथवा (विकल्प पाठ लेने पर)

मेरी चपल हृदयवेलि में खिला सुवासित कुसुमकोरक (दिव्यप्रेम सुमन) रसराज के भ्रमरतुल्य लीलाकौतुक के बिना म्लान होकर गिरा ही चाहता है; उन रसेश्वर अलिराज के मधु-मिलन की अनवरत वर्धमान अभिलाषा के वेग को सह पाने में असमर्थ, थकित हो रहा है।

—: * S—

फलति यदि गरलफलमिह लालितेऽपि पादपे
विफलमतिकुपित ! तव तरुपल्लवेषु मर्षणम् (घर्षणम्) ।
नियतमपसरतु तव वहिरामयं यदाङ्गिकम्
सगरलरसनिरसनपटु मूलतो निपाटनम् ॥१॥

तुम्हारे द्वारा बड़ी साध से पोसे हुए पौधे में यदि विषफल ही फलित हुआ देखो, तो अत्यन्त कुपित होकर उस वृक्ष के शाखा-पल्लवों को तोड़ने-मसलने से कोई लाभ न होगा । तुम्हारे वृक्ष के जो (कीटादि जनित) बाहरी रोग हैं वे तो अवश्य दूर किये जा सकते हैं, अर्थात् बहिरङ्ग दोषों के निरसन में नियत रूप से सजग, यत्नरत अवश्य रहो; किन्तु यदि उस वृक्ष में मूल से ही विष रस सञ्चारित हो रहा हो तब तो उसके निरसन का एकमात्र उचित उपाय उस वृक्ष को समूल उखाड़ फेंकना ही है । और फिर (उस विष-रस-पोषित वृक्ष को जड़ से निकाल देने के वाद) जो मूल के भी मूल हैं, उनकी शरण में जाओ !

"मूलं शरणमन्विच्छ" ॥१॥

—: * :—

यो भूमा परिपूर्णसिन्धुसदृशो मग्नोरसो नैजते
वृन्दायां स उदेति केलिकुतुकी कृष्णाम्बुदो रासवृट् ।
भूमा व्योमवितानमौनशयनो यो भाति शान्तोज्ज्वलो
रासास्वादलुभा स वेणवदने राकेन्दुकृष्णे सुधा ॥२॥

जो श्रुतिप्रसिद्ध अखण्ड, अनतिशय, स्वलसित (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित:) शुद्ध सुखैकरस भूमातत्त्व है, वह परिपूर्ण, अतिगम्भीर महासागर के समान है ।

सुप्रशान्त महासागर के वक्ष पर जैसे चञ्चल तरङ्ग-भङ्ग (विविध लहरियाँ) नहीं उठतीं, वैसे ही अखण्ड भूमा में नाम, रूप, लीला आदि प्रकटित नहीं है। यह तो स्वलसित विशुद्ध रसवस्तु की बात हुई। इसके बाद जो स्वप्रकाश निरञ्जन ज्योतिःस्वरूप वस्तु है, वह कही गई है।

जैसे सागर का सारभाग वाष्परूप में ऊपर उठकर गगन में वारिद मेघ के रूप में प्रकट होता है एवं अपने में से ही उद्भूत सौदामिनी से युक्त होकर अधिकाधिक शोभान्वित होता हुआ अपने संघटक तत्त्व के ही अन्यथा उद्भावन-स्वरूप वर्षण में प्रवृत्त होता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द का अखण्ड ऐक्य-स्वरूप भूमा जो कि अनन्त, असीम परव्योमरूपी वितान पर अथवा अपने आप में मौन रूप से सोया हुआ (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः) है, सुप्रशान्त अथच उज्ज्वल रूप में प्रकाशमान है, वही स्वप्रकाश सच्चिदानन्द वस्तु भूमा वृन्दावन में करुणार्द्र, लीलापरायण घनश्याम श्रीकृष्ण रूप में उदित होकर अपने 'हृत्'-स्वरूप आनन्द अथवा विशुद्ध रस के विलास रूप रास के आस्वादन लोभ से शरत्पूर्णिमा के अवसर पर वेणुवादन-तत्पर है। इसी रास अथवा रस-विलास-लीला के अनुरोध से ह्लादिनी-सन्धिनी-संवित् शक्तित्रय 'स्वयंज्योतिः' स्वयमेव प्रकाशमान हुई है।

अथवा जैसे क्षीरमहासागर के मन्थन से उसके सार-भाग स्वरूप चन्द्रमा, लक्ष्मी, कौस्तुभ आदि प्रकट हुए थे वैसे ही भूमातत्त्व के भी हृत्स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र व ह्लादिनी-सन्धिनी-संवित् शक्तित्रय आविर्भूत होकर विलसित हैं।